



धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय

चेतना की पत्रिका

अंक : ७२

आषाढ-भाद्र

विक्रमाब्द : २०६३

जुलाई-सितम्बर, २००६ ई०

**सम्पादक - मण्डल**

प्रो० काशीनाथ मिश्र

महन्त उद्धवदासजी

डा० श्रीरंजन सूरिदेव

आचार्य किशोर कुणाल

**प्रधान सम्पादक**

भवनाथ झा

महावीर मन्दिर प्रकाशन  
के लिए

प्रो० काशीनाथ मिश्र

द्वारा प्रकाशित

तथा

सर्वलाइट प्रेस में मुद्रित

पत्र-सम्पर्क:

धर्मायण,

पाणिनि-परिसर,

बुद्ध-मार्ग,

पटना-८००००१

दूरभाष - ०६१२-२२०७७२५

E-mail : mahavirmandir@sify.com

मूल्य : दस रुपये

# धर्मायण

## विषयसूची

	पृष्ठ सं०
* दक्षिण पूर्व एशिया की संस्कृति पर रामायण का प्रभाव डा० विद्यानन्द उपाध्याय	५
* तीर्थंकर महावीर की जन्मभूमि : वैशाली साहित्यवाचस्पति डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव	१२
* एक प्रच्छन्न भक्त का पुण्य स्मरण५० गोविन्द झा	१७
* भारत : जायसी के मनोदर्पण में डी० आर० ब्रह्मचारी	२३
* सबका मालिक एक डॉ० एस.एन.पी. सिन्हा	२६
* पौराणिक शाप कथाएँ : भारतीय मिथक डॉ० जनार्दन यादव	३४
* रामकथा के ऋषि : नारदडॉ० शिववंश पाण्डेय	४२
* रामचरितमानस में धर्म की अवधारणा डॉ० हरे कृष्ण तिवारी	४६
* तुलसीदास की गुरु-विषयक अवधारणा डॉ० श्रीकांत सिंह	५३
* तुलसीदास की रचनाओं में भाषिक समन्वय आचार्य चन्द्र किशोर पाराशर	५७
* हिन्दी की स्वच्छन्दप्रियता आचार्य सारंगधर	६४
* प्राचीन से अर्वाचीन तक: साहित्य की दृष्टि में 'नारी' डॉ० विनोद कुमार सिन्हा	६८
* श्री अरविन्द में वेदान्त-सी सृष्टि प्रो० श्रीकान्त प्रसून	७४
* इक्ष्वाकु और निमि की वंशावली वासुदेव पाण्डेय	७७



## सम्पादकीय

## त्र्यम्बकं यजामहे

शिव के अनेक नामों में से एक नाम त्र्यम्बक है, जो उनकी विशिष्ट उपाधि है। पुराण साहित्य में इसका पर्याप्त प्रयोग हुआ है। सूत्र साहित्य में भी इसकी पर्याप्त चर्चा है, किन्तु इस शब्द का सबसे प्राचीन प्रयोग यजुर्वेद में उपलब्ध होता है-

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।  
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥

(तैत्तिरीय संहिता-१/८/६)।

अर्थात् रुद्र धन-धान्य से भरण-पोषण करने वाले हैं, सौरभमय है, 'त्र्यम्बक' हैं। हम उनकी स्तुति करते हैं। जैसे ककड़ी का फल पक जाने पर स्वयं अपनी डंटल से टूट कर मुक्त हो जाता है, उसी तरह सायुज्य मोक्ष पर्यन्त जन्म मरण के बन्धन से मुक्त करें।

इस मंत्र में प्रयुक्त 'त्र्यम्बक' शब्द व्याख्याकारों के लिए पाण्डित्य प्रदर्शन का विषय रहा है। इस विवाद में कौन सा मत संगत है कौन असंगत, यह उतना महत्वपूर्ण नहीं है। इसका महत्व इस बात को लेकर है कि विभिन्न व्याख्याकारों की दृष्टि में शिव का स्वरूप क्या है। व्याख्याकारों ने इस त्र्यम्बक शब्द के द्वारा किस रूप में शिव को देखा है?

तैत्तिरीय संहिता के एक टीकाकार भट्ट भास्कर ने इस शब्द की अनेक प्रकार से व्याख्या की है

(१) त्रि+अम्बक इस प्रकार की व्युत्पत्ति में 'अम्बक' शब्द को आँख का पर्याय मानकर 'तीन आँखों वाला' ऐसा अर्थ किया है।

(२) त्रि+अम्ब+क इस व्युत्पत्ति में उन्होंने क को प्रत्यय माना है जिसकी उपस्थिति से मूल शब्द के अर्थ में कोई परिवर्तन नहीं होता है। यह स्वार्थिक प्रत्यय है। इस व्युत्पत्ति में भी उन्होंने 'अम्ब' शब्द के अनेक अर्थों का अनुसंधान किया है।

(क) 'अवि' धातु से बना 'अम्ब' शब्द का अर्थ 'शब्द' होता है। शब्द से वेद का ग्रहण होता है अतः तीन वेदों (ऋग्वेद, सामवेद एवं यजुर्वेद) द्वारा प्रतिपाद्य देवता -ऐसा अर्थ है।

(ख) भट्ट भास्कर के अनुसार गति अर्थ में व्यवहृत 'अम्' धातु से भी अम्ब शब्द की व्युत्पत्ति हो सकती है।

इस व्युत्पत्ति के द्वारा उन्होंने तीन अर्थों का उल्लेख किया है।

- \* आकाश जल एवं पृथ्वी इन तीन तत्वों में गमन करने वाले।
- \* तीन प्रकार के अग्नि में गमन करने वाले।
- \* तीन काल में रहने वाले।

इस प्रकार भट्ट भास्कर ने छः अर्थों का उल्लेख किया है। लिङ्ग महापुराण में भी इसके अनेक अर्थ किए गए हैं। यहाँ इसमें तत्पुरुष समास माना गया है तथा 'अम्ब' का अर्थ पिता अथवा स्वामी

माना गया है। इस प्रकार की व्युत्पत्ति से इस शब्द के निम्नलिखित अर्थों का निरूपण किया गया है-

- (१) भू-लोक अन्तरिक्ष-लोक एवं स्वर्ग-लोक इन तीनों लोकों के स्वामी।
- (२) सत्त्वगुण रजोगुण एवं तमोगुण इन तीनों गुणों के स्वामी।
- (३) ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं सामवेद इन तीनों वेदों के स्वामी।
- (४) ब्रह्मा-विष्णु एवं महेश- इन तीनों देवों के स्वामी।
- (५) ब्राह्मण क्षत्रिय एवं वैश्य-इन तीनों वर्णों के स्वामी।
- (६) आकार ओकार एवं मकार इन तीनों वर्णों से युक्त ओंकार के निर्माता।
- (७) सूर्य चन्द्र तथा अग्नि इन तीनों का निर्माता।
- (८) तीन प्रकार की अग्नि-यज्ञाग्नि जलाग्नि और विद्युत् अथवा दावाग्नि, वाडवाग्नि और जठराग्नि के निर्माता।

कालिका-पुराण में भी इस शब्द की व्याख्या मिलती है, जिसे 'मन्त्रप्रदीप' नामक व्याख्या ग्रन्थ में रघुनन्दन ने उद्धृत किया है। यहाँ एक कथा भी कही गई है कि जब रुद्र का जन्म हुआ तो उन्होंने ब्रह्मा से पूछा कि मेरी माता कौन है? इस प्रश्न पर ब्रह्मा ने कहा कि भूः भुवः एवं स्वः ये तीन महाव्याहृतियाँ आपकी माताएँ हैं। इस प्रकार त्रि+अम्ब+क ऐसी व्युत्पत्ति के द्वारा 'तीन माताएँ जिनकी हैं' इस अर्थ में बहुब्रीहि समास द्वारा इस शब्द का अर्थ किया गया है। इस बहुब्रीहि समास के कारण 'अम्बक' शब्द के आकार की ह्रस्वता हो गयी है। 'क' यहाँ भी स्वार्थिक प्रत्यय है।

वैदिक संहिताओं के प्रसिद्ध भाष्यकार आचार्य सायण ने इस शब्द में तत्पुरुष समास माना है तथा 'अम्बक' शब्द को पिता का पर्याय माना है इसके अनुसार 'त्र्यम्बक' शब्द का अर्थ है- ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र इन तीनों देवों के पिता'।

एक अन्य व्याख्याकार महीधर ने 'अम्बक' को नेत्र का पर्याय मानकर तीन आँखों वाला ऐसा अर्थ माना है। इन व्याख्यानों में 'अम्बक' शब्द को नेत्र का पर्याय मानना विवेचना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। संस्कृत साहित्य में इसका व्यवहार अत्यन्त विरल है। अमरकोषकार ने भी इस शब्द का उल्लेख नहीं किया है। अमरकोष के रामाश्रमी टीकाकार भानुजी दीक्षित ने हलायुध कोष की पंक्ति उद्धृत की है- **अम्बकं नयनं दृष्टिः** तथा इस आधार पर 'त्र्यम्बक' शब्द की एक व्युत्पत्ति की है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी 'त्र्यम्बक' शब्द की भ्रामक व्युत्पत्ति करने के कारण हलायुध ने 'अम्बक' शब्द को नेत्र का पर्याय मान लिया है। पुराण साहित्य में त्रिनेत्र शिव की पर्याप्त चर्चा आयी है। इस परवर्ती स्वरूप को वैदिक स्वरूप सिद्ध करने के प्रयास में व्याख्याकारों ने 'त्रि' के साथ जुड़े 'अम्बक' शब्द को नेत्र का पर्याय मान लिया हो यह सम्भव है। संस्कृत में इस प्रकार की भ्रामक व्युत्पत्ति के कारण अनेक शब्दों का जन्म भी हुआ है। जैसे-पति के अर्थ में 'धव' शब्द तथा लक्ष्मी के अर्थ 'मा' शब्द। 'विधवा' शब्द रूढ़ है क्योंकि इसके समानान्तर शब्द भारोपीय परिवार की अन्य भाषाओं में मिलते हैं। बेवा, विडो, विटवे, वेव, वे, विदुओ, विदोवि, विदु-अ -ये रूप क्रमशः नई फारसी, अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, अलबानियन, इटालियन, रूसी तथा लैटिन में मिलते हैं। संस्कृत में भी विधुर, विध, व्यध आदि शब्द हैं जिनके साथ विधवा शब्द की समानार्थकता है; अतः 'विधवा' शब्द में विध् धातु मानना संगत होगा। किन्तु वि को विगत के अर्थ में प्रयुक्त उपसर्ग मान लेने के कारण पति के अर्थ में 'धव' शब्द सत्ता में आ गया। फिर बार में 'माधव' शब्द में 'धव' का अर्थ 'पति' मानकर 'मा' को 'लक्ष्मी' का पर्याय मान लिया गया जबकि 'मधु' से 'माधव' शब्द की व्युत्पत्ति होनी चाहिये।

ऐसी स्थिति 'अम्बक' शब्द के साथ भी प्रतीत होती है। जिसके कारण 'त्र्यम्बक' शब्द भाषा-शास्त्र की दृष्टि से महत्वपूर्ण हो गया है।

पुराणों में वर्णित शिव की उपाधियों एवं शिव-सम्बन्धी आख्यानों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वैदिक देवता रुद्र का विकास शिव के रूप में हुआ है। ऋग्वेद में भी रुद्र की दो मूर्तियों का उल्लेख हुआ है। एक ओर रुद्र को 'गोघ्न' (गायों का संहार करने वाला) 'पुरुषघ्न' (मनुष्यों का संहार करने वाला) कहा गया है:-

आरे ते गोघ्नमुतपुरुषघ्नं क्षयद्वीर सुम्नमस्मे ते अस्तु।

मूळा च नो अधि च ब्रूहि देवाधा च नः शर्म यच्छ द्विर्बर्हाः ॥

हे रुद्र! वीरों के विघातक! पशुओं और मनुष्यों की हिंसा करने वाले जो आपके साधन हैं, वे हमसे दूर ही रहें। हमें आप सुख प्रदान करें। हे दीप्तमान्, आप हमारे हित में वचन दें। आप पृथ्वी और अन्तरिक्ष के स्वामी हैं; हमें सुख दें।

ऋग्वेद १।११४।१०

तो दूसरी ओर उन्हें महाभिषक् (वैद्यराज) कहा गया है तथा सन्तान प्राप्ति के लिए उनकी प्रार्थना की गयी है। पौराणिक शिव भी एक ओर ताण्डव नृत्य करने वाले त्रिपुरान्तक हैं। दूसरी ओर वैद्यनाथ हैं, मंगलमय शिव हैं।

ऋग्वेद में रुद्र सम्बन्धी सूक्तों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि अग्नि के साथ रुद्र का गहरा सम्बन्ध है। अनेक ऐसी उपाधियाँ हैं जो दोनों के लिए समान रूप से व्यवहृत हुई हैं। अग्नि को भी अनेक बार रुद्र कहा गया है (ऋ० २/१/६ तथा ३/२/५) ऋग्वैदिक रुद्र के अनेक स्वरूपों में से एक स्वरूप आकाशीय विद्युत का रूप भी है जो वास्तव में अग्नि है। यह मान लेने पर रुद्र के 'नृघ्न' और 'गोघ्न' उपाधियों की भी संगति बैठ जाती है।

पुराण काल में भी जहाँ शिव की आठ मूर्तियों का उल्लेख हुआ है वहाँ अग्नि मूर्ति शिव के लिए रुद्र नाम दिया गया है। भविष्य पुराण में जलमूर्ति, यजमान मूर्ति, सूर्यमूर्ति, चन्द्रमूर्ति, आकाश मूर्ति, पृथ्वी मूर्ति, अग्नि मूर्ति एवं वायु मूर्ति के लिए क्रमशः भव, पशुपति, ईशान, महादेव, भीम शर्व, रुद्र और उग्र नाम दिये गये हैं। इन्हीं अष्टमूर्तियों का वर्णन कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तलम् नाटक के मङ्गलाचरण में किया है।

ऋग्वेद में रुद्र की एक उपाधि 'कल्मलीकिन्' है जिसका अर्थ है जलने वाला। यह भी रुद्र और अग्नि के तादात्म्य को प्रकट करता है।

ऋग्वेद के अग्नि-सूक्तों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि अग्नि की उत्पत्ति तीन जगहों पर हुई है। प्रथम जन्म पृथ्वी पर यज्ञ में दो अरणियों की घर्षण से होता है। यह पार्थिव अग्नि उत्पन्न होते ही माता पिता रूप अरणियों (लकड़ी के दो टुकड़ों) के निगल जाता है अतः इसे 'आश्रयाश' कहा गया है। दूसरा जन्म अन्तरिक्ष लोक में होता है। जहाँ यह सूर्य के रूप में है। तीसरा जन्म जल में होता है अतः अग्नि की एक उपाधि अपानपात् हैं जो मेघ में विद्युत का प्रतीक है।

अन्य प्रकार से भी अग्नि की त्रिविध जन्म का उल्लेख ऋग्वेद में हुआ है। प्रथम पृथ्वी पर यज्ञ में, द्वितीय अन्तरिक्ष में विद्युत के रूप में तृतीय स्वर्ग लोक में सूर्य के रूप में। अग्नि के अतिरिक्त अन्य किसी भी ऋग्वैदिक देवता के त्रिविध जन्म का उल्लेख नहीं मिलता।





## दक्षिण पूर्व एशिया की संस्कृति पर रामायण का प्रभाव

○डा० विद्यानन्द उपाध्याय

राम कथा विश्व की प्राचीनतम एवं सर्वाधिक व्यापक लोकप्रिय कथा है। इस प्रख्यात कथा ने न केवल भारत में अपितु विदेशों में भी उनकी संस्कृति को प्रभावित किया है। दक्षिण पूर्व एशिया में, जिसे थाई भाषा में 'आसी आख्नेय' ( आग्नेय एशिया ) कहते हैं, राम कथा बहुत अधिक प्रचलित हुई। यहाँ इससे संबंधित विपुल साहित्य सुरक्षित है। इतना ही नहीं, कला के माध्यम से भी

इसका चित्रण किया गया है।

आदिकाल से जन-जीवन में व्याप्त आदि रामायण की पुरातन गाथा कालान्तर में वाल्मीकि द्वारा लिपिबद्ध हुई और भारतीय यात्रियों द्वारा आग्नेय एशिया में राम-सीता और रावण की यह कथा रूपायित होती रही। इतना ही नहीं, इस कथा को राष्ट्रीय महत्त्व की कथा के रूप में सम्मान भी मिला। महाजनक जातक, सुप्पारक जातक, सुस्सोंदी जातक आदि भिन्न जातक कथाओं तथा संस्कृत कथा साहित्य का बृहत् कथा कोष-कथा सरित्सागर आदि से ज्ञात होता है कि भारत

से व्यापार, जीविकापार्जन एवं धर्म-प्रचार हेतु तत्कालीन सुवर्ण भूमि एवं सुवर्ण द्वीप (वर्तमान का दक्षिण पूर्व एशिया) के देशों में सदियों तक अनवरत यात्राएँ होती रहीं। इस क्रम में रामकथा भारतीयों द्वारा आग्नेय एशिया के निवासियों के मध्य हस्तान्तरित होती रही। इस कथा से यहाँ का जन-जीवन, कला, साहित्य प्रभावित हुआ। ऐसा मान्य है कि इन देशों में प्रचलित रामकथा वहाँ के इतिहास तथा धर्म सम्बन्धी विषमताओं में सांस्कृतिक एकता एवं समन्वय की स्थापना करती रही। इतना ही नहीं, रामकथा से यहाँ का अभिनय, नृत्य, छाया-नृत्य आदि भी प्रभावित हुआ।

राम कथा अपने क्षेत्र भारत और श्रीलंका से सुदूर दक्षिण एवं पूर्व में हिन्दमहासागर के छोटे-छोटे द्वीपों में भी प्रचारित हुई और वहाँ की संस्कृति को प्रभावित करती रही। इण्डोनेशिया, मलेशिया, थाइलैण्ड, लाओस, वर्मा और कम्बुज इन देशों में राम कथा के प्रभाव पर चर्चा कर रहे हैं- प्राचीन भारतीय एवं एशियाई अध्ययन के विद्वान् डा० विद्यानन्द उपाध्याय।

-सं०

हिन्देशिया ( इण्डोनेशिया ) में रामकथा

### हिन्देशिया ( इण्डोनेशिया ) में रामकथा

हिन्देशिया के भारतीयकरण का कार्यारम्भ चौथी शताब्दी ई० से हो गया था। जावा से प्राप्त चार संस्कृत अभिलेख इसके साक्ष्य हैं, जिसमें पूर्णवर्मन नामक शासक का वर्णन है। शासक को विष्णु के चरणों के समान माना गया है। इसके

बाद हिन्दू शासकों का राज्य रहा। इसकी पुष्टि जावा के अन्य लेखों से होती है। पन्द्रहवीं शताब्दी ई० में इस्लाम के आगमन के पूर्व जावा और बाली दोनों ही हिन्दू राष्ट्र थे। बाद में जावा इस्लाम से प्रभावित हुआ किन्तु बाली में हिन्दू संस्कृति सुरक्षित रही।

S.O. Rolson के अनुसार- This means that many of the typical products of Hindu Javanese culture were transformed in Java in course of time, while in Bali they have been preserved down to the present day.

इस पृष्ठभूमि में 1520 ई० तक जावा में हिन्दू सभ्यता और मजपहित साम्राज्य का अस्तित्व बना रहा। 1520 ई० तक मजपहित साम्राज्य के पतन के बाद वहाँ इस्लाम का प्रभाव प्रारम्भ हुआ किन्तु भारतीय सभ्यता बाली और पश्चिमी लोम्बक द्वीप में फलती रही। इन देशों में भारतीय सभ्यता संस्कृति के प्रभाव के कारण यहाँ के साहित्य और संस्कृति पर रामायण का भी प्रभाव पड़ा। यह आज भी देखने को मिलता है। मध्य और पूर्व जावा में प्रम्बनान तथा पुनातरन के शिव मन्दिरों में प्रस्तर मूर्तियों की शृंखला में रामकथा अंकित है। बाली के भित्तिचित्रों तथा आधुनिक वास्तुकला में सीता की अग्नि-परीक्षा आदि दृश्यों का अंकन है। प्रम्बनान की मूर्तियों से शेषशायी विष्णु, दशरथ, उनकी तीन रानियों, राम-लक्ष्मण द्वारा राक्षस वध, स्वयंवर, राज्याभिषेक और कैकेयी द्वारा उसमें व्यवधान उत्पन्न करने आदि की रामकथा स्पष्ट होती है। दूसरे शब्दों में, प्रायः

सम्पूर्ण रामायण की प्रमुख गाथाओं पर प्रकाश पड़ता है। वैसे कथानक में कुछ अन्तर सा भी दीखता है। इसी प्रकार, पुनातरन, जो चौदहवीं शताब्दी ई० का है, के शिव मन्दिर की भित्तियों पर लम्ब रेखाओं में उत्कीर्ण मूर्तियों में फूल-पत्तियों के बीच मध्य वेयड् शैली में राम कथा के 106 दृश्य अंकित हैं। ये दृश्य लंका में हनुमान् के आगमन से कुम्भकर्ण के पतन तक के हैं। इनमें रावण के द्वारा सीता को धमकी देना, त्रिजटा का सान्त्वना, लंका-दहन के बाद रावण का रानियों के साथ भागना, राम और सुग्रीव के सैनिकों द्वारा भार ढोना, विशाल कुम्भकर्ण का धराशायी होना आदि प्रमुख हैं। इन मूर्तियों के माध्यम से उजागर राम कथा तथा प्राचीन रामकथा में साम्यता है, किन्तु मलय-राम कथा से भिन्नता है।

यहाँ के नृत्य और अभिनय पर भी रामायण का प्रभाव दीखता है। प्राचीन काल से ही जावा और बाली में रामायण और महाभारत की गाथाओं का छाया-नाट्य, पुत्तलिका नाट्य तथा रंगमंचीय नृत्य, अभिनय, जिन्हें वेयड कुलीत, वेयड गोलेक तथा वेयड वोंग कहा जाता है, द्वारा प्रदर्शन होता रहा है। आज भी बाली में मृतक कर्म में आत्मा की शान्ति के लिए महाकाव्य तथा अन्य कथाओं का पाठ और अभिनय होता है।

अभिलेखों और साहित्यों में भी रामकथा का चित्रण यहाँ सदियों तक किया जाता रहा है। सातवीं शताब्दी से 928 ई० तक मध्य जावा भारतीय संस्कृति का प्रमुख केन्द्र रहा, जिसका प्रभाव विभिन्न लेखों और साहित्य पर देखने को मिलता है। राजा संजय (762 ई०) के अभिलेख

में रामकथा का सर्वप्रथम उल्लेख हुआ है। इसमें संजय की तुलना राजा “बलितुड़” के लेख में किसी प्राचीन जावानी रामकथा के पाठ की चर्चा आयी है। हिन्देशिया में संस्कृति शिक्षा के लिए उपयुक्त साधनों की प्रचुरता की पुष्टि चीनी यात्री इत्सिंग ने की है। यहाँ भारतीय संस्कृत साहित्य के आधार पर संस्कृत में रचनाएँ रची गईं। यथा- रघुवंश के आधार पर “सुमन सांतक”, कुमार-सम्भव के आधार पर “स्मरदहन”, किरातार्जुनीय और महाभारत पर आधारित “अर्जुन विवाह” की रचना हुई। जावा के प्राचीन साहित्य ने वहाँ भारतीय संस्कृति के प्रभाव की वृद्धि में पर्याप्त सहयोग दिया है। पूर्व जावा में रामकथा के अनेक रूप देखने को मिलते हैं। सम्पूर्ण हिन्देशिया में रामकथा के सैंकड़ों रूप जीवित हैं। यथा- ककविन की गद्य रचना, बाली भाषा में लिखित राम पुराण, उत्तर पुराण के दो रूप राम काण्ड और ककविन शत्रुघन, हरिश्चय ककविन आदि प्रसिद्ध हैं। राम की इन कथाओं में यत्र तत्र विभिन्नताएँ भी हैं। लेकिन कथानक के पात्रों में राम, सीता, लक्ष्मण, विभीषण, सुग्रीव, अंगद, हनुमान् और रावण की चर्चाएँ सर्वत्र हैं।

बाली के संस्कृत साहित्य में 50 अनुष्टुप् छन्दों में रचित जानकी की चरित्र-रामायण में संक्षेप में वर्णित रामकथा भी महत्त्वपूर्ण है। चरित्र रामायण एक गद्य रचना भी है। चरित्र रामायण में एक क्रम से कई तथ्यों को रखा गया है। जैसे- राम के अयोध्या लौटने पर भरत द्वारा शासन कार्य संभालना, युद्ध की समाप्ति पर लंका की गद्दी पर विभीषण का आना तथा उसकी धर्मपरायणता,

राम की शरण में आना, सीता की अग्नि-परीक्षा आदि।

हिन्देशिया के इतिहास, संस्कृति और ललित-कलाओं का अवलोकन करने पर वहाँ के जन-जीवन में रामकथा की लोकप्रियता का सहज ही अनुमान होता है। आज भी योग्या (अयोध्या), किस्केंधा (किष्किन्धा) तथा सेतुबन्ध जैसे नगरों और सेरयू (सरयु) जैसी नदी के नाम इसके साक्ष्य हैं।

#### मलेशिया :-

प्राचीन काल में मलय देश भी भारतीय संस्कृतिक का एक प्रमुख केन्द्र था। चीनी इतिहासकारों के अनुसार पनपन, लंकासुक और केडा आदि प्रमुख हिन्दू राज्य थे। पन्द्रहवीं शताब्दी ई० पू० यह देश भी हिन्दू और बौद्ध संस्कृतियों से प्रभावित रहा। पुरातात्विक अवशेष इसके साक्ष्य हैं। वैसे भारतीय महाकाव्य रामायण और महाभारत की कथा ने मलेशिया की संस्कृति और उसके सम्पूर्ण साहित्य को प्रभावित किया है। मलेशिया के उत्तरी क्षेत्र में प्राप्त प्राचीन अवशेष यथा- चैत्य, अभिलेख, बुद्ध, गणेश, विष्णु, शिव आदि की मूर्तियों से भारतीय प्रभावित मलय संस्कृति को स्पष्ट रूप से जाना जा सकता है। भारतीय साहित्य ने मलेशिया के धर्म के साथ-साथ यहाँ की लोक संस्कृति पर भी अपनी छाप छोड़ी है।

**नृत्य और अभिनय :-** मलेशिया में 10वीं शताब्दी से रामायण और महाभारत सामान्य जन-जीवन के बीच लोकप्रिय रहे हैं। नृत्य और अभिनय के माध्यम से राम कथा का अवलोकन साक्ष्य है। मलेशिया का वेयंग कुलीत (छाया

नाट्य) मनोरंजन का महत्वपूर्ण साधन रहा है। राजा बलितुड़ (800-810) का अभिलेख यहाँ रामायण की लोकप्रियता को बताता है। राम और अर्जुन आज भी यहाँ के प्रमुख पात्र हैं। पुत्तलिकाओं को प्रकाश से पर्दे पर प्रतिच्छायित कर रामायण और महाभारत की कथाओं को, प्रदर्शित करने की परम्परा रही है। छाया नाट्यों के माध्यम से रामकथाओं को दिखाने में लोग रुचि लेते थे। ये छाया नाट्य कई प्रकार के हुआ करते थे।

**अभिलेख और साहित्य :-** प्राचीन मलय और सुमात्रा के साहित्य उपलब्ध नहीं है, लेकिन मलय साहित्य दन्त-कथाओं, पशु दृष्टान्त कथाओं, लोकोक्तियों, गीतों और पहेलियों में मौखिक रूप से जीवित है। मलय देश की रामकथाओं का आधार वाल्मीकि के रामायण से प्रभावित विविध मौखिक परम्पराएँ हैं। जैसे कथानकों में कुछ विविधताएँ हैं। ये रामकथाएँ मलय देश को तेरहवीं से सोलहवीं शताब्दी ई० के मध्य भारत तथा लंका से प्राप्त हुई; किन्तु मूल रूप में हिन्दू एवं जैन रामकथाओं से प्रभावित ही प्रतीत होती हैं। मलेशिया में अनेक रामकथाएँ हैं, लेकिन इनमें हिकायत सेरीराम सर्वाधिक प्रचलित कृति है। इसके अतिरिक्त 'भरत युद्ध', 'हिकायत पेरंग पाण्डव जय' और 'हिकायत महाराज बोम', हिकायत महाराज रावण', 'श्रीराम' और 'पातानी राम कथा' प्रचलित हैं, जिन पर शोधकार्य भी हुए हैं।

मलेशिया के साहित्य के अतिरिक्त यहाँ की मूर्तिकला, अभिनय और अभिलेखों पर भी भारतीय सभ्यता-संस्कृति की छाप स्पष्ट है। और रामायण एवं महाभारत इसके प्रमुख स्रोत हैं।

**थाईलैण्ड ( स्याम ) में रामकथा :-**

थाईलैण्ड, प्राचीन युगीन मध्य एशिया की थाई जाति द्वारा निर्मित एक वैसा देश है, जहाँ सातवीं शताब्दी ई० के बाद से भारतीय सभ्यता संस्कृति का प्रभाव बढ़ना प्रारम्भ हो गया था। थाई लोगों ने अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की स्थापना 6 वीं शताब्दी ई० में कर ली थी, लेकिन स्वतन्त्र राज्य का निर्माण प्रथम शासक श्री इन्द्रादित्य के द्वारा किया गया। इसके पुत्र रामकाम हेंग (रामखेंग) ने 1275 ई० में गद्दी पर आने के उपरान्त सुखोथाई राज्य का विस्तार कर भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार में विशेष रुचि ली। इसे थाई लिपि का जन्मदाता कहा जाता है। इस शासक की उपलब्धियों की पृष्ठभूमि में रामायण और महाभारत का भी प्रभाव थाईलैण्ड की संस्कृति पर पड़ा। यहाँ के कई नगरों के नाम रामायण के अनुरूप हुए। थाई नरेश यू- थाँग (U-Thang) ने 1347 ई० में अयोध्या के नाम पर राजधानी का नाम 'अयूथमा' रखा। इसके उत्तर में स्थित एक राजधानी को लवपुरी (लोपपुरी) कहा गया। यहाँ की अनेक लोक-कथाएँ राम से सम्बन्धित हैं।

**मूर्तिकला और चित्रकला -** थाईलैण्ड के निवासियों ने भारतीय सभ्यता संस्कृति को स्वीकार करने के क्रम में भारतीय धार्मिक गाथाओं को भी अपनाया था। इस क्रम में रामकथा का चित्रण यहाँ मूर्तियों और चित्रों के माध्यम से किया गया है। एक विशिष्ट बात यह भी है कि बौद्ध मन्दिरों में राम की कथा चित्रित है। उदाहरणार्थ वत फ्रा जेतुवान (Wat Phra Jetuban) जो बैंकाक में स्थित मन्दिर है, में राम की 152



चित्रावलि हैं। ऐसे और भी कई उदाहरण हैं जिनसे मलयेशिया पर रामायण का प्रभाव इंगित होता है। यल गुफा में अयुथ्या काल की मणिमेखला तथा परशुराम की मूर्ति मिली है। बैंकाक के कई बौद्ध मन्दिरों को राम कथा चित्रों से सुसज्जित किया गया है। अयुथ्या नरेश फ्रनाराई महाराज के काल में निर्मित बैंकाक स्थित राजकुमारी शुम्फोट का लाक्षा-निर्मित प्राचीर में रामकथा के चित्र अंकित हैं। तोत्सकान (रावण) तथा फ्रलक (लक्ष्मण) के चित्रों के अवशेष सुरक्षित हैं। 19 वीं शताब्दी में निर्मित मन्दिर फित्सुलोक के मन्दिर में राम-रावण युद्ध एवं राम द्वारा रावण-वध की कथा का अंकन किया गया है। फ्रजेतुबोन में अनेक शिलाखण्डों पर उत्कीर्ण मूर्तियों की शृंखला में सीताहरण और रावण के दल के एक शक्तिशाली योद्धा की मृत्यु चित्रण अत्यन्त आकर्षक है। “दि रामकिएन” के रचयिता जे.एम. कादेन ने चित्रावलियों की सजीवता को देखकर लिखा है- “इन चित्रों की साज-सज्जा से स्पष्ट है कि यहाँ की वास्तुकला, धर्म, राजनीति, नाट्य और अलंकृत कलाओं पर समग्र रूप से भारत की प्रारम्भिक संस्कृति का प्रभाव परिलक्षित होता है।”

### नृत्य और अभिनय :-

थाईलैण्ड की कथा की प्रत्येक विधा में रामकथा समाहित दीखती है। यहाँ की वास्तुकला, मूर्ति कला, काष्ठ-कला एवं रंगमंच आदि को राम कथा ने प्रभावित किया है। प्रसिद्ध विद्वान् S.Singaravelu ने स्पष्ट माना है- “The classical Thai dramatic art has in all times drawn its subjects from the Ram story.” थाईलैण्ड में रंगमंच पर रामकथा का विशेष प्रभाव दीखता है। नृत्य कला में “लाखों” (ओपेरा की तरह बैले) की अपनी महत्ता है। नृत्य, अभिनय और मुखौटा नृत्य सत्रहवीं सदी में लोकप्रिय था। यहाँ प्रचलित

छाया नृत्य की कथा के नायक अभी भी राम हैं। लाखों नाट्य भी रामकथा से प्रभावित हैं। यहाँ प्रचलित नृत्य और नाट्य पद्धतियों को आधुनिक परिवेश में ढाला गया है किन्तु कथानक के पात्र-राम, रावण और हनुमान् आदि ही हैं।

### अभिलेख और साहित्य :-

अयुथ्या राज्य के पतन के उपरान्त प्राचीन थाई साहित्य का समृद्ध भण्डार नष्ट हो गया। वैसे ऐसा लगता है कि तेरहवीं शताब्दी ई० से राम थाई लोगों के लोकप्रिय नामक हो चुके थे। इन्हें कम्बुज के लोगों से रामायण की जानकारी हुई, पश्चात् थाई लोगों ने कथा में कुछ परिवर्तन भी किया। रामकाम हंग का काल थाईलैण्ड (स्याम) में सुख और समृद्धि का काल था। इसके समय राम कथा को अत्यधिक लोकप्रियता मिली। थाई लिपि में ही राम की लीलाओं का वर्णन किया गया। सुखोथाई के समीपस्थ सम्पत नदी के समीप की गुफाओं के प्रस्तर खण्डों पर रामकथा का अंकन हुआ है। पन्द्रहवीं शताब्दी ई० के राजा फ्रनाराई महाराज के समय की पद्य रचना में तत्सरत (दशरथ), फ्र राम, नाड, सीदा (सीता) तथा राम की लंका यात्रा का उल्लेख है। यहाँ रामकथा से सम्बन्धित और भी कई रचनाएँ हैं। इनमें ‘कोक कमक’ ‘रामफिएन’ आदि विशेष प्रसिद्ध हैं और इनपर शोधकार्य भी हो रहे हैं।

### लाओस में रामकथा :-

कम्बोडिया के फुनान राज्य के माध्यम से लाओस में हिन्दू और बौद्ध संस्कृति का प्रचार प्रसार हुआ। तेरहवीं शताब्दी में राम काम हंग के समय इस पर थाई संस्कृति की छाप पड़ी किन्तु, बाद में पुनः यह राज्य कम्बुज नरेशों के शासन में आ गया। इसी पृष्ठभूमि में क्रमशः कम्बुज और थाईलैण्ड से यहाँ भी रामायण आया, जिसका

स्पष्ट प्रभाव यहाँ की संस्कृति पर पड़ा। प्रारम्भ में छोटे थाई राज्य कम्बुज के अधीन थे किन्तु तेरहवीं शताब्दी में रामकाम हेंग ने यहाँ सुखोथाई नामक शक्तिशाली राज्य की स्थापना की और यहाँ भारतीय संस्कृति को संवर्धित किया। इसके पतन के बाद ख्मेर (कम्बुज) सभ्यता से प्रभावित लुआङ् प्रबाङ् के राजकुमार फाङ्म ने लानसाङ् नामक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। इन दोनों के शासन काल में याओस में रामकथा की महत्ता बनी रही। लाओस में लुआङ् तथा वियनतियान के राजप्रासादों में रामकिएन और फ्रलक्, फ्रलाम की कथाएँ अंकित हैं।

यहाँ के नृत्य और अभिनय पर भी रामकथा का प्रभाव देखने को मिलता है। लाओस के रामकथा का प्रभाव देखने को मिलता है। लाओस के राजप्रासादों में नववर्ष के आगमन पर मुखौटा नृत्य और रामकथा के अभिनय की परम्परा का निर्वाह हो रहा है। वर्षा ऋतु में जनसमूह के मनोरंजनार्थ बौद्ध मठों में भिक्षुओं के द्वारा रामकथा का वाचन होता है।

**साहित्य :-** लाओस में बौद्ध साहित्य की लोकप्रियता है। फिर भी रामकथा से सम्बन्धित साहित्य यहाँ हैं। रामकथा को बौद्ध जातक कथा के रूप में काफी प्रसिद्धि मिली। यहाँ के वट उपमुङ् की रामकथा 'फ्रलक्' और 'फ्रलाम्' की कथा पर आधारित है। यहाँ रामकथा के मूल चार रूपान्तर उपलब्ध हैं- (1) फ्रलक् फ्रलाम (2) ख्वाय थोरफी (3) पोम्मचक और (4) लंकानोइ।

**वर्मा में रामकथा :-**

वर्मा भारत का प्राचीनतम पड़ोसी राज्य है। अशोक ने अपने धर्मदूतोंसोण और उत्तर को धर्म के प्रचार हेतु भेजा था। वर्मा (ब्रह्मा) का प्राचीनतम

सांस्कृतिक सम्बन्ध भारत के साथ रहा है। यहाँ अभी भी भारतीय संस्कृति के अवशेष पुरातात्विक सामग्रियों के रूप में उपलब्ध हैं, जो वहाँ भारतीय संस्कृति की उपस्थिति के साक्ष्य हैं। यद्यपि यहाँ बौद्ध धर्म का विशेष प्रभाव रहा फिर भी यहाँ के लोग रामकथा से अवगत थे। यहाँ से प्राप्त मूर्तियाँ इसके प्रमाण हैं। थाटन से गणेश, ब्रह्मा, विष्णु और शिव की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। अनिरुद्ध के पुत्र क्याजित्था ने अपना परिचय राम के वंशज के रूप में दिया है। इसकी पत्नी द्वारा निर्मित अवेयादन मन्दिर में दशरथ जातक के दृश्यों का अंकन है। इसी प्रकार मेदाओ लिओङ् के बौद्ध मठ में रावण की सभा और राम की विजय-यात्रा का चित्रण काष्ठ पर किया गया है।

यहाँ के नृत्य, अभिनय और साहित्य पर भी रामकथा का प्रभाव देखने को मिलता है। वर्मा के राजप्रासादों में रामकथा से सम्बन्धित में मुखौटा अभिनय यहाँ के प्रमुख प्रसंग है। रामवत्थु, महाराम, रामथोन्मियो, रामथाग्यीन, रामयागन आदि रामकथा से संबंधित प्रमुख साहित्य हैं।

**कम्बुज में रामकथा :-**

कम्बुज (कम्बोडिया) सर्वाधिक प्रसिद्ध भारतीयकृत देश रहा है। यहाँ के लेख तथा अन्य पुरातात्विक अवशेष यहाँ भारतीय संस्कृति की प्रमुखता एवं उपस्थिति के उद्घोषक हैं। ईसा की प्रथम शताब्दी में दक्षिण भारतीय ब्राह्मण कौण्डिन्य द्वारा स्थापित हिन्दू राज्य के बाद से लगातार पन्द्रहवीं शताब्दी तक हिन्दू शासकों के संरक्षण में यहाँ भारतीय संस्कृति का प्रचार-प्रसार होता रहा। ईसा की छठी, सातवीं शताब्दी तक यहाँ शैव,

वैष्णव और बौद्ध धर्मों का पूर्ण प्रसार हो चुका था और भारतीय संस्कृति की गहरी छाप पड़ चुकी थी। इसी पृष्ठभूमि में यहाँ की वास्तु, मूर्ति और चित्रकला रामकथा से भी प्रभावित हुआ।

कम्बोडिया के सुन्दरतम भग्नावशेषों में भारतीय संस्कृति की झलक देखने को मिलती है। यहाँ की अत्यन्त सुन्दर कृति अंगकोर वाट के पश्चिमी प्राचीर एवं कम से कम पचास मन्दिरों में राम की कथा चित्रित है। रामकथा से इन मन्दिरों को अलंकृत किया गया है। राजा भववर्मन ने मन्दिरों में रामायण और महाभारत के नित्य पाठ, पूजन आदि की व्यवस्था दी थी। अंगकोर वाट के मन्दिर में रामकथा से सन्बन्धित चित्र एवं मूर्तियों अत्यन्त अलंकृत और सजीव है। इसमें स्वर्ग-नरक, समुद्र मन्थन, देव-दानव-युद्ध एवं रामायण महाभारत के युद्धों का सुन्दर चित्रण किया गया है। सीता की अग्नि परीक्षा, नागपाश में आबद्ध राम-लक्ष्मण के पास हनुमान् का आगमन, राम-लक्ष्मण, सुग्रीव, बालि-सुग्रीव-युद्ध, अशोक वन में सीता की उपस्थिति हाथ, पर पर्वत उठाए हनुमान्, सिंहासनासीन राम-सीता आदि के दृश्य विलक्षण और आकर्षक हैं। प्रस्तर-खण्डों पर इनका चित्रण तो हुआ ही है, मन्दिर के काष्ठ-निर्मित चौखटों में रामायण और महाभारत के दृश्य अंकित हैं।

**साहित्य :-** कम्बुज में शिक्षा की उत्तम व्यवस्था थी। यशोवर्मन प्रथम यहाँ का सर्वाधिक विद्वान् शासक था, जिसने भारतीय गुरुकुल प्रणाली पर आधारित आश्रम शिक्षा पद्धति का एवं अनुशासित जीवन का अनुकरण किया था। यहाँ भारतीय

दर्शन, संस्कृत व्याकरण तथा साहित्य-शास्त्रों के साथ-साथ रामायण एवं महाभारत का अध्ययन-अध्यापन होता था। कम्बुज के अभिलेखों में राम की चारित्रिक विशेषताओं से अवगत हो शासकों की तुलना राम से की गई है। 'रियमकेर' अथवा 'रामकीर्ति' प्रमुख ग्रन्थ हैं, जो रामकथा से सम्बन्धित है। इसमें रामायण की कथा का विस्तृत विवरण है।

मूल वाल्मीकि रामायण की कथा यहाँ नृत्य, अभिनय तथा राजपरिवारों द्वारा निर्मित मन्दिरों में मूर्तियों और चित्रों के रूप में विशेष रूप से सुरक्षित रही। निश्चय ही, दक्षिण पूर्व एशिया के भारतीयकृत देश सदियों तक भारतीय संस्कृति से प्रभावित रहे। धर्म, साहित्य और कला का अनुकरण उन्होंने किया। भारतीय उपनिवेशवादियों ने इन देशों की यात्राओं के क्रम में भारतीय रामायण और महाभारत को एक क्रम से एक देश से दूसरे देश में पहुँचाया, जिनका प्रभाव वहाँ के साहित्य और कला पर पड़ा। वाल्मीकि रामायण, कम्ब रामायण, भावार्थ रामायण और असमिया गीतकाव्य आदि को कुछ अन्तर के साथ स्वीकार किया गया। वैसे यहाँ के लोगों ने भी रामकथा को अपना सांस्कृतिक परिवेश दिया, किन्तु यहाँ भारतीय रामकथा का वास्वतविक स्वरूप भी सुरक्षित रहा। पुरातात्विक साक्ष्य तो इसके सजीव एवं मूक साक्ष्य हैं।

*प्रोफेसर एवं अध्यक्ष  
स्नातकोत्तर प्राचीन भारतीय एवं एशियाई अध्ययन  
नालंदा कॉलेज, बिहार शरीफा*





विदेहभूमि की अपनी विशेषता थी कि वहाँ के निवासियों में अनेक मनुष्य अपने सदाचार और विशुद्ध भावनाओं से तीर्थकर नाम-कर्म को अर्जित करने की क्षमता आयत्त करते थे और अनेक मनुष्य पंचोत्तर विमानों में अहमिन्द्रत्व प्राप्त करने की शक्ति से सम्पन्न होते थे। कतिपय भव्य जीव, सत्पात्रों के लिए उत्तम भक्ति के साथ दान करके भोगभूमि अर्जित करते थे और कुछ लोग जिन-पूजन के प्रभाव से इन्द्रत्व को प्राप्त कर लेते थे। उस विदेह-क्षेत्र में देव, मनुष्य और विद्याधरों से वन्दनीय तीर्थकरों और सम्मान्य केवलियों की निर्वाण-भूमियाँ पदे-पदे दृष्टिगोचर होती थीं। वहाँ के वन, पर्वत आदि ध्यानावस्थित योगियों द्वारा निरन्तर आसेवित थे और नगर, ग्राम आदि ऊँचे-ऊँचे जिन-मन्दिरों से सुशोभित रहते थे। केवलज्ञानी भगवान् और गणधर धर्म-प्रवृत्ति के निमित्त चारों संघों (मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका) के साथ वहाँ तपोविहार किया करते थे।

इस प्रकार के धार्मिक तथा औत्सविक वातावरण से समलंकृत उस विदेहभूमि, अर्थात् वैशाली के नाभितुल्य मध्यभाग में, अयोध्यानगरी के समान, कुण्डपुर नाम का महानगर विराजित था। सुरक्षा की दृष्टि से वह महानगर ऊँचे-ऊँचे गोपुरों, परकोटों और गहरी खाइयों से घिरा था, फलतः वह शत्रुओं के लिए दुर्लभ्य था। वहाँ स्वर्ग के देवता तीर्थयात्रा करने तथा केवलियों और तीर्थकरों के पंचकल्याणक-महोत्सव मनाने के निमित्त बराबर आया करते थे। इस प्रकार, वह भूमि अनवरत समारोह की सघन सुषमा से नित्य नवीन और परम रमणीय बनी रहती थी।

उस विशाल नगर में सोने और रत्नों से निर्मित उत्तम जिनालय अपनी पवित्र आभा बिखेरते थे। ज्ञानियों से सुसेवित वह महानगर अद्भुत धर्म-समुद्र की भाँति प्रतीत होता था। उन जिनालयों में बराबर जयजयकार गूँजता रहता था और स्तोत्र, गीत, नृत्य, वाद्य आदि की मनोमोहक स्वरमाधुरी अनुध्वनित होती रहती थी। जिनालयों की दिव्य मणिमय जिन-प्रतिमाएँ दिव्य सुवर्ण के उपकरणों और अलंकारों से दीप्त रहती थीं। पूजन के लिए आनेवाले दम्पति अपने उत्कृष्ट गुणों और दिव्य रूपों से देवयुगल के समान सुशोभित होते थे।

उस कुण्डपुर में बुद्धिमान् तथा भक्तिभावपूर्वक 'किमिच्छित' दान करनेवाले पुरुष नित्य अपने घर के द्वार पर अतिथियों की प्रतीक्षा करते रहते थे। मुनियों को पारण करानेवाले गृहस्थों के घर में निरन्तर रत्नवृष्टि होती थी, जिसे देखकर दूसरे लोग को भी दान करने की प्रेरणा मिलती रहती थी। वहाँ ऊँचे-ऊँचे गगनचुम्बी प्रासाद अपनी ध्वजा-रूपी हाथों से देवेन्द्रों का आवाहन करते-से प्रतीत होते थे। वहाँ के भवनों में रहनेवाले लोग दाता, धार्मिक, शूर-वीर तथा व्रतशील-गुणों के धारक होते थे। वे देवगुरुओं की भक्ति, सेवा और पूजा में लगे रहते थे। वहाँ के निवासी नीतिमार्ग में चतुर, लोक-परलोक के हितसाधन में उद्यत, धर्मात्मा, सदाचारी, धनी, सुखी और ज्ञानी थे। वहाँ के दिव्य रूप-गुणवाले पुरुष और उनके समान ही दिव्य-रूप-गुणवती स्त्रियाँ देव-देवियों के समान प्रतीत होते थे। इस प्रकार, वह कुण्डपुर तत्कालीन भारतीय सांस्कृतिक चेतना की परमोन्नत स्थिति का परिचायक था।

गुणचन्द्रगणी-विरचित प्राकृत-निबद्ध 'महावीरचरित्र' के सातवें प्रस्ताव में वैशाली का नामोल्लेखपूर्वक वर्णन मिलता है। महावीरस्वामी तपोविहार के क्रम में जिस समय वैशाली नगरी लौटे थे, उस समय वहाँ शंख नाम का गणराजा राज्य करता था। (सो महावीरजिणवरो कमेण विहरमाणो वेसालिं नयरिं संपत्तो, तत्थ य..... संखो नाम गणराया।) शंख ने महावीरस्वामी का बड़े ठाट-बाट के स्वागत-सत्कार किया था। महावीर स्वामी वहाँ से पुनः वैशाली के पार्श्ववर्ती वाणिज्यग्राम नगर में भी पधारे थे। उस समय वैशाली और वाणिज्यग्राम के बीच अतिशय गहरे जल वाली गण्डकी नदी बहती थी और उसमें नावें चलती थीं। नाविक नौकायात्रियों से खेवा लेकर ही उन्हें पार उतारते थे। निर्ग्रन्थ महावीरस्वामी भी जब नाव से पार उतारे थे, तब नाविकों ने खेवा के लिए उन्हें रोक लिया था, फलतः महावीरस्वामी को कड़ी धूप में, गरम बालू पर बहुत देर तक खड़ा रहना पड़ा था। बाद में, शंख का राजा का भगिना 'चित्त' ने उन्हें नाविकों से मुक्त किया था।

भगवान् महावीर ने वाणिज्यग्राम के बहिर्भाग में जहाँ तपोविहार किया था, वह स्थान वन-खण्ड से मण्डित था, जिसमें छहों ऋतुएँ क्रम-क्रम से अपने सौन्दर्य-वैभव बिखेरती थीं। वनपादपों में आम्रवृक्षों की प्रधानता थी। सप्तपर्ण, कंकोल, सरल और सल्लकी के पेड़ों की बहुलता थी। उस वनखण्ड में हिरन चौकड़ी भरते रहते थे और मदमत्त हाथी झूमते चलते थे। पक्षियों में पपीहे, नीलकण्ठ और कोयलों की मनोमुग्धकर स्वर-माधुरी मुखरित रहती थी। उस जनपद के

निवासी जाड़े के दिनों में, ठण्ड से सिकुड़ते शरीरों में गरमाहट लाने के लिए, जगह-जगह 'घूर' (अग्निपुंज) जलाकर उसके इर्दगिर्द जमे रहते थे। महावीरस्वामी जब वाणिज्यग्राम नगर के अन्तर्भाग में पहुँचे, तब वहाँ आनन्द नाम के तपोनिरत श्रावक ने उनके दर्शन से केवल ज्ञान प्राप्त किया था। इस प्रकार 'महावीरचरित्र' में भी महावीर-युग की वैशाली की धार्मिक, प्राकृतिक तथा जानपद जीवन की स्थिति के एक से एक सुरम्य चित्र प्रतिबिम्बित हुए हैं।

आचार्य विबुध श्रीधर (बारहवीं शती) द्वारा अपभ्रंश में निबद्ध 'वड्डमाणचरिउ' (सन्धि: 9) में महावीर-युग की वैशाली के उदात्त रूप के दर्शन होते हैं। विदेह देश की तत्कालीन वैशाली के उपकण्ठ में अवस्थित कुण्डपुर नगर का कलावरेण्य चित्रण करते हुए अपभ्रंश-कवि विबुध श्रीधर ने लिखा है :-

णिवसइ विदेहु णामेण देस ।  
 खयरामरेहिं सुहायर-पएसु ॥  
 सुपसिद्धउ धम्मिय-लोय- चारु ।  
 णिय- सयल-मणोहर कंति-सारु ॥  
 पुंजीकिउ णाईं धरित्तियाए ।  
 मुणिवर- पय- पंकय- भत्तियाए ॥  
 सिय-गोमंडल जणियाणुराय ।  
 सुणिसण्ण मयंकिय मज्झ-भाय ॥  
 जहिं जण-मणरा विणिअडइ भाइ ।  
 सामत्र निसायर-मुत्ति णाईं ॥

निश्चय ही, उपर्युक्त वर्णन से कुण्डपुर के आश्रमोपम बिम्ब का भव्यतम उद्भावन होता है।

आचार्य विबुध श्रीधर द्वारा किये गये आगे के वर्णनों से कुण्डपुर के प्राकृतिक वैभव और स्थापत्य की उत्कृष्टता का निदर्शन प्राप्त होता है: वह कुण्डपुर पद्मपूरित जलाशयों से सुशोभित था। वहाँ की कृषि-सम्पदा स्पृहणीय थी। मणिरत्नखचित, ध्वजमण्डित गगनस्पर्शी विमानों- प्रासादों, गम्भीर खाइयों और उन्नत परकोटों से विभूषित कुण्डपुर अतिशय विशाल प्रतीत होता था। वहाँ की कामिनियों के आभूषण की छटा रात्रि में दीपकों की ज्योति को निष्प्रभ कर देती थी और उनके लावण्य-ललित मुखचन्द्र से चन्द्रमा भी मलिन पड़ जाता था। इस प्रकार, 'वड्डमाणचरिउ' से भी स्पष्ट है कि महावीर के समय का वैशाली भारतवर्ष के तत्कालीन समृद्धतम महानगरियों में अद्वितीय थी।

कहना न होगा कि उक्त प्रकार के और भी अनेक धार्मिक-पौराणिक जैनग्रन्थों में महावीर-युग की वैशाली की वैभव-दीप्ति के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण मिलते हैं। तदनुसार, वैशाली-स्थित कुण्डपुर नगर की चर्चा इन्द्रलोक में भी होती थी। वैशाली की भूमि उपवन, कानन, कुंजवन, नदी, सरोवर आदि की प्राकृतिक दिव्यता, भवन, प्राकार, प्राचीर, परिखा, तोरण आदि की वास्तुगत भव्यता तथा धन-धान्य, पशुधन आदि की अपारता के साथ ही बहत्तर कलाओं में निपुण रूपवान् नागरिकों की धर्म-प्रभावना की प्रकर्षता आदि की दृष्टि से देवलोक की समता रखती थी, इसलिए वह वैशाली-भूमि तीर्थकर महावीर की जन्मभूमि के उपयुक्त थी।

जिनप्रभसूरि-रचित 'विविधतीर्थकल्प' के शत्रुंजयतीर्थकल्प में कुण्डग्राम या कुण्डपुर की तीर्थोपमता को स्वीकार करते हुए कहा गया है

कि वहाँ की यात्रा करने से सौ-गुना फल प्राप्त होता है। मूल श्लोक इस प्रकार है:-

अयोध्या- मिथिला-चम्पा-श्रावस्ती- हस्तिनापुरे ।  
कौशाम्बी काशि-काकन्दी-काम्पिल्ये भद्रलाभिधे ॥  
रत्नवाहे शौर्यपुरे कुण्डग्रामेऽप्यपापया ।  
चन्द्रानना-सिंहपुरे तथा राजगृहे पुरे ॥  
श्रीरैवतक- सम्मेत- वैभारा-ऽष्टापदादिषु ।  
यात्रयास्मिंस्तेषु यात्राफलाच्छतगुणं फलम् ॥

इससे स्पष्ट है कि जैनों की दृष्टि में वैशाली का एक महिमाशाली तीर्थ के रूप में अधिक मूल्य था। किन्तु, बौद्ध वाङ्मय में वैशाली का राजनीतिक और ऐतिहासिक दृष्टि से भी मूल्यांकन किया गया है और इस सम्बन्ध में, पालि साहित्य में विस्तृत विवरण भी उपलब्ध होता है। इससे सहज ही यह प्रतीत होता है, बुद्ध के, एक धर्मनेता के रूप में वैशाली पहुँचने पर महावीर का विशुद्ध धार्मिक माहात्म्य या प्रभाव मन्द ही नहीं पड़ गया, अपितु मगध (राजगृह) से आयातित राजनीति या कूटनीति के उपलेप के कारण वह जनदृष्टि से ओझल भी हो गया। यही कारण है कि परवर्ती जैन ग्रन्थकार अपने वर्णनों में वैशाली को गौण स्थान देने लगे और कुण्डपुर या क्षत्रियकुण्डग्राम को उन्होंने अधिक प्रमुखता दी। ईसा की तृतीय-चतुर्थ शती के युगान्तरकारी जैनप्राकृत-कथाकार आचार्य संघदासगणी ने तो अपनी कूटस्थ कथाकृति 'वसुदेवहिण्डी' में, बिहार के जनपदों में मगध, मिथिला और चम्पा का साग्रह वर्णन किया है, किन्तु वैशाली या कुण्डपुर या फिर लिच्छवि या वज्जिसंघ का यत्किंचित् उल्लेख भी नहीं किया है।

प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थों में इस बात की बार-बार चर्चा आई है कि वैशाली के महावीर-युग के वज्जिसंघ के लिच्छवि-सदस्य इतने अनुशासित, निर्भय और पराक्रमी थे कि वे अपने शत्रुओं को तुच्छ समझते थे। वे नियमित रूप से महासभा में सम्मिलित होते, विचार-विमर्श करते तथा संघ-नियमों का दृढ़ता से पालन करते थे। वज्जिसंघ के सदस्यों की यह एकसूत्रता मगध-साम्राज्य के लिए ईर्ष्या का कारण थी, यह बात बुद्ध और उनके प्रधान शिष्य आनन्द के सुप्रसिद्ध पारस्परिक संलाप के माध्यम से भी स्पष्ट होती है।

ऐतिहासिक स्रोत से यह सूचना मिलती है कि महावीर-युग की वैशाली के लिच्छवि उत्तर-पूर्व भारत की महाबलशाली, सुशिक्षित, सम्पन्न और कलाप्रेमी क्षत्रिय जाति थे। तभी तो उन्होंने विदेह-क्षेत्र की ग्रामसुन्दरियों को कला प्रतियोगिता के माध्यम से अम्बपाली को निर्वाचित कर उसे वैशाली की नगरवधू या राजनर्तकी के पद पर प्रतिष्ठित किया था। और, जब मगध की सेना वैशाली पर चढ़ आई थी, तब युद्धोन्माद में आकर रणभूमि में सिंहनाद करनेवाले सैनिकों में अम्बपाली ने ही सबसे आगे बढ़कर वज्जियों को शत्रु-संहार के लिए ललकारा था। इससे यह संकेत मिलता है कि महावीर-कालीन वैशाली की नारियाँ केवल कला-विलासिनी की नहीं थी, अपितु राष्ट्ररक्षा के लिए अपनी जान की बाजी लगा देने में भी सबसे आगे रहती थीं, साथ ही वे तपस्साधना के लिए भोग-विलास को पटान्त-लग्न तृण की तरह तुच्छ समझकर तिलांजलि दे देती थीं। इस सन्दर्भ में चम्पा से वैशाली आकर अपने विशाल भिक्षुणी-संघ

के साथ धर्मविहार करनेवाली, महावीर की शिष्या चन्दनबाला तथा वैशाली-गणराज्य की अन्तिम अधिष्ठात्री कुमारदेवी के नाम अनुशंसनीय हैं। भगवान् महावीर की माता विदेह (वैशाली) की थी और महावीर को 'वैदेही-पुत्र' (वैशालीक) के रूप में सम्बोधित किया जाता था। इससे यह सहज ही अनुमेय है कि महावीर के समय विदेह लिच्छवि-शासन के अन्तर्भुक्त था। इसीलिए, आत्मप्रकाश भगवान् महावीर के निर्वाण की वेला में विदेह के नव मल्लियों के साथ ही लिच्छवियों ने भी दीपोत्सव का आयोजन किया था।

प्राचीन इतिहास के अतिरिक्त पुरातन जैनसाहित्य से भी इस बात का पता चलता है कि ईसापूर्व पाँचवीं-छठी शती, अर्थात् महावीर के समय में, वैशाली में लिच्छवियों का राज्य था और वैशाली की सर्वतोमुखी समृद्धि परवान चढ़ी हुई थी। इतना ही नहीं, महावीर के समय, वैशाली में लिच्छवियों ने ही संसार की अतिसभ्य शासन-व्यवस्था गणतन्त्र की स्थापना की थी, जिसमें वंश-परम्परा से कोई राजा नहीं होता था, वरन् जनता द्वारा चुना गया प्रतिनिधि ही राजा माना जाता था। अतएव, आज भी महावीर-युग की वैशाली के लिच्छवियों को ही गणतन्त्रात्मक राज्य-शासन का प्रथम प्रतिष्ठाता के रूप में स्मरण किया जाता है।

डा० श्रीरंजन सुरिदेव  
३७, भा० स्टेट बैंक ऑफिसर्स कॉलोनी  
काली-मन्दिर मार्ग, हनुमाननगर  
कंकड़बाग, पटना-२०





ॐ ॐ

## एक प्रच्छन्न भक्त का पुण्य स्मरण

○ प० गोविन्द झा

ॐ ॐ

दिव्य चरित अदिव्य के लिये आदर्श नहीं हो सकता है। मानवों के लिये मानवों के चरित में ही आदर्श ढूँढना है।

-विद्यापति, पुरुषपरीक्षा से।

धर्म को

कोई आर्त होकर गहता, कोई जिज्ञासु होकर। मेरे लिये धर्म सदा जिज्ञासा और कुतूहल का विषय रहा है। संयोगवश एक लम्बे अरस तक एक प्रच्छन्न

धर्म का तत्त्व गुफा में छिपा हुआ है, इसलिए कहा गया है कि महाजनो येन गतः स पन्थाः। इस आलेख में भी विद्वान् लेखक ने एक ऐसे धार्मिक व्यक्ति का संस्मरण प्रस्तुत किया है, जो आडम्बर में विश्वास न कर अन्तःकरण की निश्चलता और सात्त्विकता में विश्वास रखकर धर्माचरण करते थे। लेखक महोदय ने इनका नाम नाम कहीं नहीं लिया है; किन्तु वे इनकी साधना को धर्माचरण का एक उदाहरण अवश्य मानते हैं।

भक्त की निकटता मिलती रही और मैं शुद्ध जिज्ञासु भाव से, एक शोध-छात्र की तरह उनकी प्रच्छन्नता के गढ़ में घुस कर उनकी साधना के स्वरूप का अवलोकन करता रहा। प्रस्तुत लेख उसी अवलोकन की एक झलक है। इसमें मेरा लक्ष्य किसी व्यक्ति की बड़ाई करना नहीं है, केवल इतना ही दिखाना है कि साधना का एक सुन्दर मार्ग वह भी है, जिसपर वे प्रच्छन्न भक्त चलते रहे।

\* \* \*

साहब के सामने बैठा हूँ। एक सहकर्मी, जो आज ही पिता बना है, दो तश्तरियों में मिठाई लिये आता है और हम दोनों के आगे रखता है।

साहब बधाई देते हैं और अपनी तश्तरी मेरी ओर बढ़ा देते हैं। अगले दिन फिर मैं वहीं बैठा हूँ। साहस करके पूछता हूँ, “सर, आपने कल मिठाई खाई नहीं। उस बेचारे को बड़ा दुख हुआ।”

साहब जो छिपाना चाहते थे; छिपा न सके। धीरे से बोले, “हाँ,

कल मेरा एकादशी व्रत था। ’ ’ आ श्चर्य! दो-तीन वर्षों से निकट रहते हुए भी मुझे कभी भनक तक न

मिल पाई कि साहब इतने नैष्ठिक हैं। और होता तो अवश्य ही व्रती होने का बार-बार बखान करता और अपनी नैष्ठिकता का ढिंढोरा पीटता रहता।

बाना बनाने और ढिंढोरा पीटने वाले सन्तों पर मुझे उतनी श्रद्धा नहीं होती जितनी प्रच्छन्न साधकों पर। साहब प्रकाण्ड पण्डित थे, इस नाते मुझे उनपर विशेष श्रद्धा थी। मैं भी सहकर्मियों के बीच ‘पण्डितजी’ कहलाता था; संस्कृत का छात्र जो रहा। शायद इसीलिये मुझ पर उनका विशेष स्नेह था। यह संस्कृतज्ञता दोनों के बीच कड़ी बनी और अन्तरंगता बढ़ती गई।

साहब यौवन-काल में अच्छे कवि थे। आपकी कविताएँ उन दिनों 'विशाल भारत', 'चाँद', 'माधुरी' आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित होती थीं। आपकी कविताओं का एक संग्रह 1934 में प्रकाशित हुआ था, जिसकी भूमिका महाकवि निराला ने लिखी। कवि के मन की भावना और कहीं प्रकट हो कि नहीं, उनकी कविता में अक्सर प्रकट हो जाती है। हमारे साहब के साथ भी यही बात हुई। मैं उनकी एक कविता के सहारे ही उनके मन की उस प्रच्छन्न कोठरी की कुछ झलक पा गया।

उन दिनों मैं श्लोक रचा करता और कभी-कभी साहब को सुनाता। एक दिन उन्होंने कागज का एक टुकड़ा मुझे थमाते हुए कहा, "आप श्लोक रचते हैं। मैंने भी एक प्रयास किया है। देखिये तो।" श्लोक था :-

**धिगिमं प्रणयप्रजागरं**

**नयने हन्त प्रगे निमीलिते ।**

**शनकैर्मम वक्षसि प्रियो**

**निजपीताम्बरमादधे कदा ॥**

*धिक्कार है उस प्रेम को,*

*जिसने उड़ाई नींद मेरी ।*

*आँखें फिर भी मुँदी-मुँदी थीं ।*

*न जाने कब मेरा प्रियतम आया*

*और मेरे सीने पर अपना पीताम्बर डाल गया ।*

बस, इसी श्लोक में साहब के मन की उस प्रच्छन्न कोठरी की पहली झलक मुझे दिखाई पड़ी। इस श्लोक से दो बातें निकलीं; उनका बीच में सूख चुकी कवि-प्रतिभा का पुनरुदय और सखी-सम्प्रदाय में उनका प्रवेश। दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। भक्ति का, विशेष कर प्रेमा-भक्ति का उद्रेक किसी को भी कवि बना देता है। शक्ति का आवेग दबाये भी नहीं दबता। वह हृदय के जलागार की दीवारों को तोड़ कर पार्वत्य नदी की तरह वाणी के रूप में बहता ही

जाता है। जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास, सूर, तुलसी, मीरा, तुकाराम और अनगिनत अन्य सन्तों के गीत इसी प्रबल धारा में रूपायित हुए हैं। हमारे आलोच्य कवि में जब एक बार काव्य रचना का सूखा उत्स पुनः सजग हो गया तो वे सौ-सवा सौ से भी अधिक श्लोक और गीत संस्कृत और हिन्दी में उनके हृदय से निकल कर कागज पर उतर आये।

परन्तु आश्चर्य की बात है कि इन प्रच्छन्न भक्त-कवि ने शायद जान-बूझकर अपनी इन रचनाओं को कागज से बाहर नहीं जाने दिया। न कहीं पत्र-पत्रिका में छपीं, न कीर्तन-मण्डली में गईं, न आकाशवाणी में गूँजीं।

आपकी रचनाओं को मैंने आपके होठों पर भी गूँजते कभी न सुना। कागज पर भी इन रचनाओं के दर्शन तभी हुए, जब वैकुण्ठवास हो गया। खेद की बात है कि संस्कृत और हिन्दी की इन श्रेय और प्रेय रचनाओं के आस्वादन से प्रेमी भक्त जन अबतक लाभ नहीं उठा पाये हैं। कस्तूरी की महक शपथ से नहीं, सूँघने से ही मालूम होती है, इसलिये इन रचनाओं के कुछ उद्धरण इस लेख के अन्त में दिये जाएँगे। अब यहाँ यह देखना है कि हमारे साहब सखी-सम्प्रदाय में आये कैसे।

आजकल बड़े-बड़े साहब लोग अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिये और पापों को धोने के लिये बड़े-बड़े सन्तों के चरणों पर माथा टेकने और दूर-दूर तक तीर्थ-यात्रा करते रहते हैं। मैंने अपने प्रच्छन्न भक्त को कभी ऐसा करते नहीं देखा। आप इस तरह के आचरण को भटकाव मानते थे। यदि किसी व्यक्ति को एक देवता पर और एक साधना मार्ग पर पक्का विश्वास है तो वह कभी भी दूसरा दरवाजा नहीं खटखटाएगा। ऐसा करना इस बात का संकेत है कि उसको किसी भी देवता या साधना-मार्ग पर विश्वास

नहीं है। यही था उनके 'भटकाव' शब्द का आशय। हमारे साहब को कहीं गुरु भी नहीं मिला। इसको वे अपना दुर्भाग्य समझते थे। आजकल बाजारू और व्यापारी गुरु तो देश-विदेश में छाये हुए हैं, सच्चे धर्मगुरु भी बहुत हैं, पर हमारे साहब ढूँढ़ न पाये। तो गुरु के बिना ज्ञान कैसे मिलेगा और साधना का मार्ग कौन दिखलाएगा? उनका उत्तर था- शास्त्र। हमारा शास्त्र विशेष कर धर्म सम्बन्धी शास्त्र हमारी अमूल्य निधि है। जो खोजोगे वो मिलेगा। शास्त्रों में अनेक मार्ग बताये गये हैं। उनमें एक को, सिर्फ एक को चुन लें। शास्त्रों के जंगल में भटकना बुरा है। हमारे साहब को शास्त्रों में ही एक मनपसन्द साधना-मार्ग मिल गया- भक्ति का, प्रेमा-भक्ति का, मधुर उपासना का मार्ग।

यहाँ प्रश्न उठता है, जब साहब मधुर उपासना के मार्ग में पग डाले तो फिर मीरा की तरह 'पग घुँघरू बाँधे.. नाच्यो' क्यों नहीं? उत्तर बाद में, पहले एक अप्रासंगिक या आनुषंगिक बात। इसी मधुर उपासना मार्ग के एक अच्छे साधक, कुशल गायक और सरस कवि बाँके बिहारी 'करील' हमारे साहब के प्रिय मित्र थे। वे साहब के घर पर आकर यदा कदा स्वरचित भजन गा-गा कर सुनाया करते थे। उन दिनों उनका भजन-कीर्तन और प्रवचन खूब सराहा जाता था। साहब के यहाँ इस भजन-गोष्ठी में एक-दो बार मैं भी उपस्थित था। 'करील' जी झूम-झूम कर गाते संस्कृत, ब्रजभाषा, मैथिली, बंगला, भोजपुरी अनेक भाषाओं के गीत। सुनने वालों के होठों में मुसकुराहट आती, सिर हिलाते, पर हमारे साहब? वे तो प्रतिमा की तरह निश्चल, निर्विकार ध्यानमग्न हैं। ऐसा क्यों?

प्रेम का स्थान है हृदय। प्रेम आन्तरिक साधना है। कोई भी बाह्य व्यापार प्रेम की तन्मयता को तोड़ता है। अंग-संचालन भी। हाँ, अश्रु और रामांच ये दो आंगिक ऐसे हैं जिन्हे बौद्ध साधक भी रोक नहीं सकते।

हमारे प्रच्छन्न भक्त को जो कुछ गुरुपदेश या गूढ़ोपदेश मिला वह गौड़ीय, वल्लभ और राधा वल्लभय महा प्रेम-दर्शन से। फिर भी उनकी चिन्तन-पद्धति अपनी है। यदि सच पूछें तो वस्तुतः सभी आचार्य-चरणों की धूल ले-लेकर उन्होंने अपनी डगर आप बनायी है।

आपके गहन चिन्तन की विवेचना का स्थान यहाँ नहीं है। सूत्र रूप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि भक्ति मार्ग में आराध्य के साथ कोई भाव (कोई नाता) जोड़ना होता है। जैसे हनुमान् का दास्य भाव, यशोदा का वात्सल्य भाव। इसी तरह कोई अपने को राधा समझ कर, कोई राधा की सखी गोपी समझकर प्रेम-भाव से कृष्ण के साथ रमण करता है। हमारे साहब ने सखी-भाव को अपना या इस भाव में आपका नाम था 'युगली' जो आपके कई श्लोकों में आया है। एक श्लोक देखा जाय :-

**युगली युगलीति नामतो मां**

**यदि राधा ललिताऽपि मंजरी वा।**

**मधुकुञ्जगता स्मरेत् कदाचिद्**

**दरबिन्दू रससिन्धुसाद् भवेयम् ॥**

(यदि राधा या उनकी सखी ललिता या मंजरी मधुवन में युगली इस नाम से मुझे कभी पुकारे तो बूँद-सी छोटी भी मैं रस-समुद्र बन जाऊँ।)

ज्ञातव्य है कि चैतन्य मार्गी साधना में हर साधक सखी भाव अपनाने पर अपना एक नाम रखता था। सखी-भाव में एक विशेष लाभ यह है कि इसमें एक ओर राधा और दूसरी ओर कृष्ण दोनों से नाता जुड़ जाता था, और कृष्ण के ध्यान में हमेशा राधा भी अनायास उपस्थित हो जाती है। रोचक बात तो यह है कि आपको राधा के बिना कृष्ण भी दिखाई न देते थे :-

**दुर्विगाहघननीलिमच्छविं**

**को नु कृष्णमभिवीक्षितुं क्षमः ।**

संगता न हि तडिल्लतेव चेत्  
स्वर्णादीपकलिकेव राधिका ॥

(कृष्ण तो मानो भादो की अँधेरी रात का घना बादल है। उस पर अगर स्वर्णमयी दीप-शिखा सदृश राधा रूपी बिजली विराजमान न हो, तो उस बादल को कौन देख सकेगा।)

संस्कृत भाषा आज भी सर्जनात्मक साहित्य में, शास्त्रीय विवेचन में, शिक्षा में कुछ और क्षेत्रों में प्रचलित है, लेकिन सबसे अधिक प्राणबन्ध है धर्म के क्षेत्र में। भले ही, ब्रजभाषा, हिन्दी, बंगला आदि भाषाएँ भी इस क्षेत्र में अपना अधिकार जमाते जा रही हैं, किन्तु संस्कृत की प्रतिष्ठा आज भी अक्षुण्ण है। हर संस्कृतज्ञ भक्त कुछ न कुछ भक्तिपरक श्लोक या गीत रचते आ रहे हैं। इस परम्परा में हमारे आलोच्य भक्त का योगदान अवश्य ही महत्त्वपूर्ण है। आपने संस्कृत में शताधिक श्लोकों के अतिरिक्त बीस-पच्चीस गीत भी रचे हैं, जो शंकराचार्य और जयदेव की परम्परा की याद दिलाते हैं। आधुनिकता का पुट इन्हें और भी महत्त्वपूर्ण बनाता है।

अन्त में आप की कुछ रचनाएँ उदाहरणार्थ यहाँ दी जाती हैं। ये रचनाएँ तथा और भी बहुत सी बातें आपके 'श्रीयुगल शतदलम्' से ली गई हैं।

(1)

कृष्णध्यानरसे पुरैव मधुरं राधाननं जृम्भते  
नामोच्चारमहोत्सवेऽपि रमणो राधानुगो माधवः।  
हृच्चक्रे निदधाति पादयुगलं नीलोत्पलश्यामलं  
तावत् कोकनदोपमौ हि चरणौ प्रागेव प्रोन्मीलतः॥

दूँढ़ता में कृष्ण को था, राधिका को पा गया ।  
और फिर प्रियतम स्वयं लो, द्वार मेरे आ गया ॥  
नाम-लीलाविष्ट रसना पर प्रथम राधा-चरण,  
अनुग माधव का पलक में प्रेम-पर-वश अवतरण,  
बिसुध मेरी बीन पर मधुगीत कोई गा गया ॥  
योगिपीठोपम हृदय में कौँधती विद्युल्लता,  
और तब नव नील घन कोई अधीर पधारता,

राधिका ने धूल झाड़ी, कृष्ण को मैं भा गया ॥  
दूँढ़ता में कृष्ण को था, राधिका को पा गया ॥

द्रष्टव्य है कि किस तरह श्लोक के भावों को गीत में पल्लवित किया गया। संस्कृत में समास शैली और हिन्दी में व्यास शैली फबती है।

(2)

पिय साँवर तिय गोरी रे,  
राधा-माधव-जोरी ॥

मन मगन, युगल गलबाहीं,  
मधुवन कदम्ब की छाहीं,  
अँखियाँ मधु रस बोरी रे,  
राधा-माधव जोरी ॥

नव निकषोपम छवि नीली,  
सोने के रेख रसीली,  
प्रेम-विरह में भोरी रे,  
राधा-माधव-जोरी ॥

प्रति अंग-अंग आलिंगन,  
अधराधर-सम्पुट-बन्धन,  
प्रीत रीत बरजोरी रे,  
राधा-माधव-जोरी ॥

निर्वेद विवर्त मधुर भ्रम,  
पुरुषायित केलि चरणतम,  
मीठी नेह ठगोरी रे,  
राध-माधव-जोरी ॥

(3)

रटन् 'राधे राधे' व्रज रजसि पुण्ये परिलुठन्  
जपन् कार्ष्ण मन्त्रं सुभगयमुनायास्तटमटन्।  
निमञ्जञ्छ्री कुण्डे गुरुगिरिवरग्रावसु नटन्  
कदा वृन्दारण्ये रमण प्रणयं स्यामनुगृणन्॥

वृन्दावन के कुंज-कुंज में  
झूम-झूम रस घोलना  
राधे राधे बोलना।

उलझ-उलझकर काँटों में  
चखना फल सुरस करीले के।  
प्यासे मीन बने रहना

नित जल में यमुना नील के।

लोट-लोटकर गली-गली में

रोना कभी किलोलना।

राधे राधे बोलना।

मधु मज्जन राधिका-कुंड में

गोवर्धन गलबाँहना,

बरसाने में बैठ बिलखना,

कृष्ण केलि की चाहना।

कब होंगे ऐसे दिन,

ओ साँवरे, तनिक मुख खोलना।

राधे राधे बोलना।

(4)

भजेऽहं त्वां रात्रिन्दिवमिति यदभ्यासवशतः

करोम्येतद् वैधी कृतिरियमनुप्रेरित इव ।

यदा मे भावार्द्रं भवति भजनं स्वानुरसिकं

न कुर्वेऽहं किञ्चित् तव हि रसना त्वां रटति या।

(5)

गेहेषु ज्वलिता प्रदीपपटली सन्ध्या च्युता पश्चिमा  
संशयानं तु ममाङ्गनेऽन्धतमसं भग्ना द्विये प्राघुण!  
कण्ठोद्यत् परिपीतमश्रुनिभृतं लीना दुराशा हृदि  
राधालिङ्गितकृष्ण मां युगलिकामालिङ्ग सान्ध्यक्षणे॥

घर-घर संझा के दीप जले।

मेरे आँगन जग भर का तम,

तुम कहाँ प्राण, किस नीम तले ?

तिल-तिल कर कटा दिवा का दुख

यह किन्तु निशामुख ज्वालामुख

मेरे अधरों पर सुलग रहे

भूले बिसरे चुम्बन पिछले ।

चुप अश्रु पिए, टुक रो न सकी

में हाय तुम्हारी हो न सकी

अब तो भुज में भर लो प्रियतम

छन बाकी थे जो, बीत चले।

घर-घर संझा के दीप जले।

(6)

माधव शृणु मे गीतम्

किमपि यदुदितं तन्मे रुदितं दृशि तव नास्त्रमुदेति ।

मृदु नवनीतं हृदि विपरीतं कथमितरः प्रत्येति ॥

त्वं कनीनिका परमसि स्विका किन्तु कथं पश्यामि ।

रोम्णि रोम्णि मे हर्षणं हिते किमहार्दं व्यनजानि ॥

नूनं विरहो न मे दुःसहो हरे सुखं जीवामि ।

श्यामसुन्दरं प्रेमनिर्भरं तदपि हन्त वरयामि ॥

मामङ्गीकुरु हर दुःखं गुरु विरहरसं मे देहि ।

याचे नाहं मेघोन्नाहं दाहमेव मयि धेहि ॥

चक्षुषि नीरं प्रवहतु धीरं शुष्यतु नैव कदापि ।

नेत्रतारके मे मघार्द्रके तरलायिते सदापि ॥

जन्मनि जन्मति मेऽन्तर्मर्मणि विद्भ्रणं पुषाण ।

युगलमञ्जरीं निजां किङ्करीं तापय मैव गृहाण ॥

विरमय वेणुं प्रेतम्, माधव, शृणु मे गीतम् ॥

सुन लो मेरा गान माधव सुन लो मेरा गान।

छन्द न वन्दन केवल क्रन्दन तुम तो शालग्राम ॥

माखन चाखन किन्तु कटिन मन बंक त्रिभंगी वाम ॥

प्रिय तुम लोचन-पुतली के घन नित्य मिलित भी दूर।

रोम-रोम तन पुलकपालि-वन छाये जीवन-मूर ॥

सच तो है यह विरहन दुःसह मुझे सुखी मन-प्राण।

श्यामल सुन्दर कठण अश्रुधर मैं ही तो पाषाण ॥

मुझे ले लिया तभी तो दिया रसतम विरह अथाह।

नील मेघ ओ यहाँ न बरसो दे दो यदि हो दाह ॥

जलते रूखे कभी न सूखे इन नयनों के नीर।

लोचन-कोए खोए-खोए आर्द्रा मघा गभीर ॥

शत जन्मान्तर विरह गहनतर मधुर पिया की रत।

‘युगलमंजरी’ रो-रो बिखरी निखरी ज्यों-ज्यों प्रीत ॥

आज न छोड़ो तान प्रियतम सुन लो रुदन कि गान

(7)

कूजति यदि वंशी तव हे सन्ततमविनीतम्  
 गातुमशक्यं माधव हे श्रोतुं वा गीतम्  
 रमसे क्वापि निलीनो हे निकषा वा दूरे  
 निर्मग्नोऽहं जीनो हे मुरली ध्वनिपूरे ।  
 कुत्र निकुञ्जे विचरन् हे नटवर मदयसि माम् ।  
 घूर्णन् गतो वसन्तो हे दीर्घाहाः प्रतपन्  
 प्रावृषि बत नोदन्तो हे जीमोतो विलपन् ।  
 कथं श्रावणोऽयं शृणु हे श्रावयति न किञ्चित्  
 नहि द्रावणोऽयं वृणु हे प्रेमा मम किंस्वित् ।  
 युगलमञ्जरीं परिचिनु हे मय्यन्तर्गुडाम्  
 प्रीतश्चेदघुना धिनु हे प्रीतिं निर्व्यूढाम् ।

किस कदम्ब की डरिया रे तुम अगम अगोचर  
 पिछुआरी बँसबरिया रे मैं खड़ी नयन झर।  
 फूँक रहे तुम रसिया रे क्या मन्त्र रूप धर  
 अंग-अंग में बसिया रे अब लो भुज में भर।  
 दिन दाही गलबहियाँ रे रैन विष-नागिन  
 भर भादर की छहियाँ रे साँवरी सुहागन।  
 कुछ न सुनाती पफहियाँ रे कैसा यह सावन  
 सपने की रँगरलियाँ रे क्या हाय न द्रावन।  
 'युगलमंजरी' खोई रे मुझ में प्रिय जानो  
 प्रीत रीत यह कोई रे अब तो पहचानो।  
 -पटेल नगर, पटना



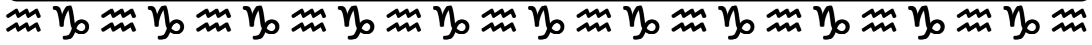
कूज रही बाँसुरिया रे मोहन मिठबोली  
 मेरे मन की बतिया रे मन ही में डोली।

**श्री**राम के पितामह राजा रघु एक बार सर्वस्व दान कर राजमहल को छोड़कर वन में कुटिया बनाकर जीवन बिता रहे थे। उन्ही दिनों आचार्य वरतन्तु के शिष्य कौत्स उनकी कुटिया पर पहुँचे। राजा ने उनका स्वागत किया और पधारने का उद्देश्य पूछा। कौत्स विद्याध्ययन की समाप्ति के बाद गुरु-दक्षिणा के लिए धन की याचना के उद्देश्य से राजा के पास आये थे; किन्तु राजा की स्थिति देखकर वे वास्तविकता बताने में हिचक रहे थे। रघु के द्वारा बार-बार कुरेदने पर उन्होंने सारी बात बतला दी।

रघु ने गम्भीर भाव से कहा- “आप एक दिन का समय दें। मैं क्षत्रिय हूँ और मैंने अपना धनुष-बाण दान नहीं किया है। मैं कुबेर का राज्य जीतकर कल आपके लिए स्वर्ण-राशि की व्यवस्था करूँगा।”

रघु ने कुबेर की नगरी अलकापुरी पर आक्रमण करने का संकल्प लिया और अतिथि कौत्स की सेवा कर सो गये। रघु का संकल्प जानकर उसी रात कुबेर ने घबड़ा कर उनकी कुटिया के सामने इतनी स्वर्ण-राशि उड़ेल दी, जो कौत्स की आवश्यकता से कई गुना अधिक थी।

(कालिदास कृत 'रघुवंश' के आधार पर)



## भारत : जायसी के मनोदर्पण में

०डी० आर० ब्रह्मचारी

प्रश्नों-प्रसंगों में भी यही बात है। बिना मिट्टी का सम्पूर्ण अध्ययन किए, इनका निष्कर्ष प्रामाणिक कतई नहीं हो सकता; क्योंकि माता भूमि: पुत्रोऽहं पृथिव्याः। भाव-विचार-दर्शन साहित्य-सभी मिट्टी की उपज हैं, ये आकाश से नहीं टपकते, इसे दृष्टंगम करना होगा। अभिप्राय है कि बिना परम्परा की परख के, आँखें मूँद कर प्रगति की सूई दे डालने पर अनुकूल न होने की स्थिति में 'रिएक्शन' को कोई रोक नहीं सकता। यहाँ यह समझ लेना भी उतना ही आवश्यक है कि परम्परा का अर्थ रूढ़ि कतई नहीं होता। परम्परा नित्य प्राणवन्त होती रहती है नवीनता में,

रोगी के बाह्याभ्यन्तर रचना-तन्तु का गम्भीर ज्ञान जिस चिकित्सक को न होगा उसके द्वारा निदान के लिए दी गई औषधि के अनुपान से यदि किसी प्रकार का 'रिएक्शन' उत्पन्न होता है तो कोई आश्चर्य नहीं। 'रिएक्शन' और कुछ नहीं होता, शरीर द्वारा दवा की अस्वीकृति का उत्सर्जन है। इसलिए कुशल चिकित्सक रोगी की बाह्याभ्यन्तर सूक्ष्मतापूर्वक पड़ताल कर लेने के अनन्तर ही औषधि निर्धारित करता है। स्मरणीय है, जितना यह आवश्यक है; औषधि की शुद्धता-प्रामाणिकता का परीक्षण उससे किंचित् कम नहीं। पथ्य-परहेज के महत्त्व के सम्बन्ध में कहना ही क्या? ऐसा केवल कायिक चिकित्सा तक सीमित नहीं होता, कृषि-उद्योग, राज-समाज, साहित्य-दर्शन-कला-संस्कृति के

भारतीय मध्यकालीन ससमाज में व्याप्त भेदभाव, छुआछूत आदि कुरीतियों को दूर कर समरसता लाने में सूफी सन्तों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इनके काव्यों में भारतीय वेदान्त दर्शन और ऐकान्तिक भक्तिवाद का समन्वित रूप मिलता है, जिसके कारण रहस्यवाद की झलक यहाँ मिलती है। इसी परम्परा में शेरशाह के समकालिक सूफी कवि मलिक मुहम्मद जायसी महत्त्वपूर्ण हैं। पद्मावत, अखरावट एवं आखिरी कलाम ये इनकी तीन रचनाएँ हैं।

'पद्मावत' रहस्यात्मक महाकाव्य है। चित्तौड़गढ़ यहाँ शरीर का प्रतीक है, जिसका राजा रत्नसेन मन है। नायिका पद्मावती बुद्धि है, सिंघल हृदय है। सुलतान अलाउद्दीन माया है तथा नागमती दुनिया का छल-छन्द है। पद्मावती उस राजा से प्रेम करती है, जिसमें सुलतान बाधक है किन्तु तोता वह गुरु है, जो रानी का मार्ग-निर्देश करता है।

जायसी ने इस पृष्ठभूमि में भारतीय संस्कार का बखूबी चित्रण किया है। इस विषय पर यह आलेख प्रस्तुत है।

अन्यथा निष्प्राण होकर उसे मरते देर भी नहीं लगती। सुविज्ञता का दम्भ भरनेवाले हमलोगों को अपने देश के रचना-तन्त्र का सही-सही कितना

अन्यथा निष्प्राण होकर उसे मरते देर भी नहीं लगती।

सुविज्ञता का दम्भ भरनेवाले हमलोगों को अपने देश के रचना-तन्त्र का सही-सही कितना

ज्ञान है, नहीं कहा जा सकता, किन्तु रायबरेली जिले के जायस नामक कस्बा में 'पद्मावत' का बखान करने वाले मध्यकालीन सन्त कवि मलिक मुहम्मद जायसी को अपने समय और स्थान का पूरा-पूरा ज्ञान था, इसमें दो मत नहीं-

**जायस नगर धरम अस्थानू ।**

**तहँवा यह कव कीन्ह बखानू ॥**

जिस प्रकार की मिट्टी के रस-ग्रहण से निर्मित अपने मनोजगत् जायसी ने 'पद्मावत' तैयार किया उसका प्रतिबिम्ब भारत तो भारत उसके सिंहल द्वीप में भी मिलता है। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि सिंहल भौगोलिक मानचित्र का आज का श्रीलंका नहीं, कवि के अन्तःकरण का अभिन्न अंश है।

बारह महीनों के छह ऋतुओं वाले इस देश में जायसी का कवि बना था, जिसकी छाप उसकी रचनाओं में यात्रा करने वालों को पग-पग पर दिखाई पड़ती है। सौन्दर्य चाहे मूर्त हो अथवा अमूर्त, उसके कण-कण से प्रेम करनेवाले इस कवि को सर्वत्र वसन्त की मादकता की अनुभूति यदि होती है तो उसे अहेतुक एकदम नहीं कहा जा सकता-

**निसिदिन रहै वसंत भा**

**छहु रितु बारह मास ।**

उनकी दृष्टि में रौताई (ठकुराई) और कुशल-क्षेम साथ-साथ नहीं चलने की। खेल धन्य वही होता है जो प्रेम रस के साथ खेला जाय-

धनि सो खेले खेलहिं रस पेमा। रौताई औ कूसल क्षेमा। संप्रति 'रौताई' और 'कुशल-क्षेम' का ही खेल तो होता है। हार्दिक प्रेम का लवलेश कहाँ?

जायसी ने यहाँ 'चचुटिया' पक्षी को देखा था जो भोर में बोलता है, 'एकै तू ही' बोलने

वाले पण्डुक को देखा था, सारिका और मैना की चहचहाहट सुनी थी, उड़ते-गिरते कबूतरों को देखा था, 'पिउ-पिउ' पुकारते पपीहे को देखा था, 'तुही-तुही' कहकर खीझती गुडरू को देखा था, 'कहु-कहु' कइने वाली कोयल को देखा था, विविध प्रकार की बोली बोलने वाली भुजुगा को देखा था और देखा था, 'दही-दही' बोलने वाली महरी तथा अपना हाल बताने वाले हारिल के अतिरिक्त कुहकते मोर एवं कोलाइल करते कौवे को। यही नहीं, उन्होंने सुना था इन पक्षियों को आम, कटहल, बड़हर, खिरनी, जामुन, नारियल, खुरहुरी, शहद जैसी मिठास तथा सुगन्धित चूने वाले महुए, सुपारी, जायफल, इमली, ताड़ और खजूर के वृक्षों पर बैठकर अपनी-अपनी भाषा में देव का नाम लेते-

**जावत पंखि कहे सब, बैठे भरि अँव राउँ।**

**आपनि-आपनि भाषा, लेहिं दहअ कर नाउँ॥**

जायसी की दृष्टि आँजने वाले इन उपकरणों को कथमपि नजरअन्दाज कर छोड़ा नहीं जा सकता।

इन पक्षियों के साथ-साथ इनसे जुड़ी कवि-प्रसिद्धियाँ भी कवि की आँखों से ओझल नहीं रहीं-

**चकई-चकवा केलि कराहीं**

**निसि बिछुरहिं औ दिन हिं मिलाही ।**

**कुरलहिं सारस भरे हुलासा**

**जिअपन हमार मुअपहिं एक पासा ॥**

चकई-चकवा के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि इनके जोड़े रात्रि में वियुक्त होते हैं। इनका मिलन दिन में ही होता है। वैसे ही, सारस के सम्बन्ध में कहा जाता है कि इनका जीवन-मरण साथ-साथ होता है।

भारतीय पुरावृत्तों के सम्यक् प्रयोग से 'पद्मावत' का पृष्ठ-पृष्ठ मुखरित है।



‘नख-शिख खण्ड’ के अन्तर्गत पदमावति की भुक्नुटि की तुलना धनुष से करता हुआ कवि लिखता है-

उहै धनुक उन भैहनि चढ़े  
काई इतियार काल आस गढ़े ।  
उहै धनुक किरसुन पहुँ आहा  
उहै धनुक कर गहा ।  
उहै धनुक रावन संघारा  
उहै धनुक कंसासुर मारा ।  
उहै धनुक वेधा हुत राहू ।  
मारा ओहि सहस्सर बाहू ।  
उहै धनुक मैं ओपहँ चीन्हा ।  
धानुक आप बेझ जग कीन्हा ।

पदमावती की भौं नहीं, धनुष है। काल ने किसके लिए इसे गढ़ा है? वही धनुष कृष्ण के पास था। उसी धनुष को राम ने ग्रहण किया था। उसी से रावण का संहार तथा कंस का वध हुआ। उसी धनुष से अर्जुन ने मत्स्य-वेध किया था। और उसी से सहस्रार्जु मरा। मैंने पहचाना, धनुर्धर ने उसके द्वारा ही संसार को अपना लक्ष्य बनाया। यहाँ उपनिषद् का ‘यस्य भासा सर्वमिदं विभाति’ का स्मरण स्वाभाविक है।

पदमावती का नख-शिख-वर्णन सुनकर रत्नसेन मूर्छित हो जाता है-

है राजहिं लष्वन कै करा ।  
सकत बान मोहा है परा ।  
नहिं सो राम हनिवंत बड़ि दूरी ।  
को लै आव सजीवनि मूरी ।

राजा लक्ष्मण के समान हो गया। राम भी नहीं हैं। हनुमान भी बहुत दूर हैं, संजीविनी कौन लाएगा?

हीरामन के समझाने पर राजा की चेतना लौटी। वह पदमावती की प्राप्ति के लिए जोगी बन गया। तन से बेसुध और मन से बावला होकर वह रट लगाने लगा। चन्दन लगाने वाला चन्द्र सदृश वदन में उसने भस्म रमाकर मिट्टी से उसे मिट्टी कर डाला, मेखला बाँध ली, हाथ में

सिंगी चझ और गोरखधंधा ले लिया। गले में जोग पट्ट और रुद्राक्ष धारण कर सहारा के लिए अधारी ले ली। कथरी लपेटकर हाथ में डण्डा ले लिया। सिद्ध होने के लिए वह ‘जय श्री गोरखनाथ’ कहने लगा। कानो में मुन्द्री, कंठ में जयमाल, हाथ में कमण्डलु और कंधे पर बाँधकर रख लिया। पैरों में खड़ाऊँ, सिर पर छत्र और लाल वेश बना कर खप्पर ले लिया-

तन विसँ भर मन बाउर रटा ।  
अरूझा पेम पूरी सिर जटा ।  
चन्द वदन औ चन्दन देहा ।

भसम चढाइ कीन्ह तन खेहा ।  
मेखल सिंगी चक धँधारी ।  
जो गौरा रूद्राख अधारी ।  
कंथा पहिरि डंड कर गहा ।  
सिद्ध होइ कहूँ गोरख कहा ।  
मुंद्रा स्रवन कंठ जय माला ।  
कर उदपान काँध बछ छला ।  
पाँवरि पाँव लीन्ह सिर छाता ।  
खप्पर लीन्ह भेस कै राता ।

इस स्थिति में रत्नसेन की माता के रोने का दृश्य देखकर ‘बुद्धचरित’ के सिद्धार्थ की माता के रोने के दृश्य का स्मरण होता है। माता के कथन पर रत्नसेन का उत्तर होता है- यदि राज्य और भोग ही हितकर होता तो गोपीचन्द्र योग क्यों साधते-

जाँ भल होत राज औ भोजू ।  
गोपिचंद कत साधत जोगू ॥

‘राजा-गजपति-संवाद खंड’ में ‘बुद्धचरित’ के बिबिसार की भाँति रत्नसेन को उड़ीसा के राजा गजपति विधि प्रकार से प्रबोधकर आतिथ्य स्वीकार करने का अनुरोध करते हैं।

वसन्तोत्सव मनाने के क्रम में शिव-पूजनार्थ उपस्थित सहेलियाँ शिव मन्दिर में जोगी रत्नसेन को देखकर पदमावती से कहती हैं- जान पड़ता

है यह गोपीचन्द जोगी है, अथवा वियोगी भरथरी जो पिंगल रानी के कारण कदली बन गए थे।

‘वसन्त-खण्ड’ में शिव-मन्दिर में पदमावति के रूप-सौन्दर्य को देखते ही राजा रत्नसेन मूर्छित हो जाता है। पद्मावती उसकी देह पर चन्दन लेप कर चली जाती है। उसके जाने पर राजा की मूर्छा टूटती है। ‘राजा रत्नसेन सती खण्ड’ में वह विलाप करने लगता है-

जैसे शकुन्तला का वियोग दुष्यन्त के लिए और कामकन्दला का माधवानल के लिए था। उसी प्रकार में पदमावती के लिए वियोग-विदग्ध हूँ। सोती दमयन्ती को छोड़ नल जिस प्रकार चला गया था, उसी प्रकार मुझे सोया छोड़कर दमयन्ती चली गई-

जस दुखंत कहूँ साकुंतला ।  
माधौ न लहि काम कंदला ।  
भए अंक नल जैसे दमवती ।  
नैना मूँद छपी पद्मावती ।

‘पार्वती-महेश-खण्ड’ में वियोग नहीं सह पाने के कारण रत्नसेन अपने लिए चिता का निर्माण कर उसमें भस्म हुआ चाहता है-

सर चढ़ि तबहिं जरा कह राजा।

लंका को जलाने वाले वीर हनुमन्त उस पर्वत की रक्षा करते थे। रत्नसेन की चिताग्नि से वह भी जलने लगे। उन्होंने शिव-पार्वती से कहा। हनुमान् से सन्देश सुनकर ‘पार्वती-महेश खण्ड’ में शिवजी सद्यः वहाँ पहुँच जाते हैं-

ततखन पहुँचा आइ महेसू ।  
वाहन बैल कुस्टि कर भेसू ।  
काँथरि कया हड़ावरि बाँधे ।  
रूंड माल औ हत्या काँधे ।  
सेसनाग औ कंठै माला ।  
तन विभूति हस्तिकर छाला ।  
पहुँची रुद्र कँवल के गटा ।

ससि माथे औ सुरसारे जटा ।  
चँवर घंट ओ डँबरू हाथा ।  
गौरा पारवती धनि साथा ।  
औ हनिबंत वीर संग आवा ।  
धरे वेष जनु बंदर छावा ।

आते ही उन्होंने कहा- आग मत लगाओ। तुम्हें उसकी ही शपथ है, जिसके हेतु तुम आग में जल रहे हो। जीते जी प्राण क्यों गँवाते हो? अपने वियोग का कारण बताओ-

जियत जीय कस काठह  
करहु सो मोहि वियोग ।

कथा सुनकर महादेव ने कहा-  
जो दुख सहै, होइ सुख ओकाँ ।  
दुख बिनु सुख न जाइ सिवलोका ॥  
पार्वती योगी का सत्य-भाव देखना चाहती है-

पारवती मन उपजा चाऊ ।  
देखौ कुँवर केर सत भाऊ ।

वह सुन्दर अप्सरा बनकर राजा का आँचल पकड़ लेती है-

मैं सुरूप जानहुँ अपछरा  
विहँसी कुँवर कर आँचर धरा ।

किन्तु रत्नसेन का उत्तर होता है- मेरा दृढ़ निश्चय है, उसके द्वार पर जीवन वार दूँगा। अपना सिर उतार कर न्योंछावर कर दूँगा-

ओहि के बार जीवनहिं वारौं  
सिर उतारि ने वछावरि डारौं ।

पद्मावत में आठो कुल के नागों की चर्चा न केवल नख-शिख-खण्ड के अन्तर्गत है, बल्कि ‘रत्नसेन-शूली खण्ड’ में भी है।

अस्टौकुरी नाग ओरगाने भै  
के सन्हि के बाँद ।

अर्थात् आठो कुल के नाग के स्वामी मानो उन केशों के बन्दी हो गए हैं। नागों के आठो कुल ये हैं-

अनन्तो वासुकिः पदमो महापदमोऽथ तक्षकः।  
कुलीरः कर्कटः शंखो ह्यष्टौ नागाः प्रकीर्तिताः।

सारी कथा से अवगत होकर पदमावती के पिता राजा गन्धर्वसेन रत्नसेन जोगी से युद्ध का संकल्प कर बैठते हैं। 'रत्नसेन-शूली खण्ड' में गन्धर्वसेन का भाट जोगी रत्नसेन की दीप्ति से अभिभूत होकर उसे समझाता है। गन्धर्वसेन! यदि उस जोगी से युद्ध ठाना तो महाभारत मच जाएगा-

भारथ होइ जाँ अयोधा ।

होहिं सहाय आइ सब जोधा ।

महादेव रन घंट बजावा ।

सुनि कै सबद बहु चलिआवा ।

चढै अत्र लै कृष्ण मुरारी ।

इंद्रलोक सब लोक गोहारी ।

फनपति फनपतार सो काढा ।

अष्टौ कुरीनाग भा ठाढा ।

तैंतिस कोटि देवता राजा ।

औ छयानवे मेघ दर गाजा ।

छप्पन कोटि वैसंदर बरा ।

सवालाख पर्वत फरहरा ।

नवौ नाथ चलि आवहिं, औ चारासी सिद्ध ।

आजु महारन भारथ चले, गगन गरुड़ औ गिद्ध ।

महादेव ने अपना रण-घंट बजा दिया है। सुनकर ब्रह्मा चले आ रहे हैं। कृष्णमुरारी अस्त्र लेकर चल चुके हैं। सम्पूर्ण इंद्रलोक में गुहार पड़ी है। फणीधर शेषनाग ने पाताल लोक से अपना फण निकाल लिया है और आठो कुल के नाग सहायतार्थ खड़े हो गए हैं। तैंतीस कोटि हैं। फल लगने पर आम का पेड़ झुक जाता है, इसलिए वह अमृत तुल्य है। वही स्त्री प्रियतम की प्रीति की प्यारी होती है, जो सेवा-भाव के कारण उसे जीत लेती है।

आगे वह कहती है- पोथा निकालकर यात्रा का दिन देख लो। दिशाशूल, जोगिनी चक्र और काल संमुख हो तो प्रस्थान मत करना-

पोथा काढि गवन दिन देखहु ।

कवन देवस दहूँ चाल ।

दिसासूर औ चक जोगिनी ।

सौह न चलिऐ काल ।

'पद्मावत' में दिशाशूल और योगिनीचक्र का अच्छा विवरण है। दिशाशूल का एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

आदित सूक पछिउँ दिसि राहू ।

विहफै दखिन लंक दिसि डाहू ॥

सोम सनीचर पुरूब न चालू ।

मंगर बुद्ध उतर दिसि कालू ॥

अवसि चला चाहै जाँ कोई ।

ओखद कहौं रोग कहूँ सोई ॥

मंगर चलत मेलु मुख धना ।

चलिय सोम दखिय दरपाना ॥

सूकहि चलत मेलु मुख राई ।

बिहफै दखिन चलत गुरू खाई ॥

आदित हीं तँबोर मुख मंडिअ ।

बावभिरंग सनीचर खंडिअ ॥

बुद्धहि दधि कै चलिअ भोजना ।

ओखद यहै और नहिं खोजना ॥

रविवार को और शुक्रवार को पश्चिम दिशा में शूल (राहु) रहता है। बृहस्पति को दक्षिण या लंका दिशा दहकती है। सोमवार और शनिवार को पूर्व दिशा में चलना वर्जित है। मंगल और बुध को उत्तर दिशा में काल रहता है।

यदि कोई जाना ही चाहे तो दिशाशूल रोग की दवा बतलाता हूँ। मंगलवार को चलते समय मुँह में धनिया रख लो। सोमवार को चलते समय दर्पण में अपना मुँह देख लो। शुक्रवार को प्रस्थान करते समय मुँह में राई डाल लो। बृहस्पतिवार को दक्षिण की ओर जाते वक्त गुड़ खा लो। रविवार को पान तथा शनिवार को बायविडंग मुँह में डालकर यात्रा करो।

जायसी योगशास्त्र में भी पारंगत थे, जिनके प्रतीकों से 'पद्मावत' भरा पड़ा है। 'सिंहलद्वीप

वर्णन खण्ड' तथा 'पार्वती-महेश खण्ड' इसका भरपूर चित्रण हुआ है।

नौ द्वारों के अतिरिक्त दसम द्वार तथा अनहदनाद का चित्र-

नवौं पँवरि पर दसौं दुआरू ।  
तेहि पर बाज राज धरिआरू ॥  
इड़ा-पिंगला नाड़ियों का चित्र-  
गढ़ पर नीर-खीर दुइ नदी ।  
पानी भरहिं जैसे द्रपद ।

सहस्रार चक्र के पास जल ('रस गगन गुफा से अजर झरै'-कबीर।) जिसका पान कोई साधक ही कर सकता है-

और कुंड एक मोती चूरू ।  
पानी अंब्रित कीच कपूरू ॥  
औहिक पानि राजा पैजिआ ।  
विरिध होई नहिं जौं लहि जिया ॥  
मेरू दण्ड-

कंचन विरिख एक तेहिपासा ।  
जस कल्प तरू इंद्र कविलासा ।  
मूलाधार और सहस्रार चङ्ग-  
मूल पतार सरग ओहि साखा ।  
अमर बेलि को पाव को चाखा ।

इसके अतिरिक्त वेदान्त, नाथ सम्प्रदाय, चौरासी सिद्ध तथा सहज साधना की पारिभाषिक शब्दावली से 'पद्मावत' के पृष्ठ आपूर्ण हैं।

अपने समय में चलने वाली विविध प्रकार की साधनाओं से कवि कितना अवगत था, इसकी बानगी देखी जा सकती है-

मठ मंडप चहु पास सँवारे ।  
जपा तपा सब आसन मारे ।  
कोई रिखेस्वर कोइ संन्यासी ।  
कोई रामजन कोई मसवासी ।  
कोई ब्रह्मचर्ज पंथ के लागे ।  
कोई दिगंबर आछड़िं नाँगे ।  
कोई सरसुती सिद्ध कोइ जोगी ।  
कोइ निरस पंथ बैठ वियोगी ।

कोई महेशुर जंगम जती ।

कोइ एक परखै देवी सती ।

गाम्भीर्य, प्रस्तार और अनुदात्ता के बावजूद कवि की निष्पृहता उसके व्यक्तित्व में चार चाँद लगती है-

हौं सब कविन्ह केर पछिलगा/  
किछु कहि चला तबल दडगा।

मैं सभी कवियों का पिछलगू हूँ। नगारे की आवाज के बीच भी अपना कुछ कहने को डेग बढ़ा दिया है, हिम्मत कर डाली है। पंडितों से विनय करता हूँ कि जो भी त्रुटि हो उसे सँवारने-सजाने की कृपा करें-

औ बिनती पंडितन्ह सौं भजा ।

टूट सँवारेहु मेरएहु सजा ।

तथापि कवि का आत्मविश्वास देखते बनता है-

मुहमद कवि जो प्रेमका, न तन रक्तु न माँसु।  
जेई मुख देखा तेई हँसा, सुनातो आए आँसु।

'पद्मावत' भारतीय मिट्टी की उपज है। अपनी परम्परा को भरपूर परखकर ही जायसी ने निदान स्वरूप जो औषधि इस महाकाव्य के रूप में प्रस्तुत की है वह आज के रोगों की भी समीचीन चिकित्सा है। रत्नसेन और पद्मावती के माध्यम से यही तो कहा गया है-

तन चितउर मन राजा कीन्हा ।

हिय सिंहल बुधि पद्मिनी चीन्हा ।

गुरू सुआ जेहि पंथ देखावा ।

बिनु गुरू जगत को निरगुन पावा ।

'पद्मावत' समासोक्ति पद्धति पर रचित महाकाव्य है जहाँ प्रस्तुत द्वारा अप्रस्तुत कथन किया गया है-

मानुष प्रेम भएउ बैकुंठी ।

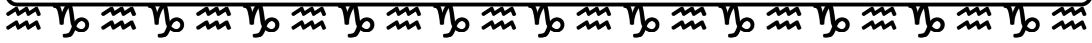
वाहिंत त काह छार एक मूठा ।

इसकी प्रासंगिकता पर कोई ऊँगली नहीं उठा सकता।

नक्कूथान, मोहनपुर

समस्तीपुर-848101





## सबका मालिक एक

○डॉ. एस.एन.पी. सिन्हा

बाबा का जन्म कब कैसे कहाँ किस

परिवार में हुआ, कोई नहीं जानता। जिस तरह कबीर, तुलसी और सन्त नामदेव बाल रूप में प्राप्त हुए थे, उसी तरह कहा जाता है कि बाबा बाल रूप में

गोदावरी नदी के किनारे एक सूफी सन्त को मिले थे। उन्होंने बाबा का पालन-पोषण किया। सन् 1854 में वे बालयोगी के रूप में शिरडी में देखे गये।

शिरडी में बाबा एक पुरानी मस्जिद में रहते थे, जिसे उन्होंने 'द्वारिका माई' नाम दिया, आज भी द्वारिका माई में बाबा की

प्रज्वलित की गयी धूनी अखण्ड रूप से जल रही है और उसका चमत्कारी 'भस्म' के अनेक सुखकर प्रभाव अनेक भक्तों ने श्रद्धा के साथ अनुभव किया। यह सर्वविदित है कि बाबा सबसे दक्षिणा लिया करते थे तथा उस धनराशि से इन्धन मोलकर सदैव धूनी प्रज्वलित रखते थे।

इसी धूनी का भस्म ही 'उदी' कहलाता है। उदी वितरित कर बाबा हमें शिक्षा देते हैं कि इस अंगारे की तरह गोचर होने वाले ब्रह्माण्ड का प्रतिविम्ब भस्म के समान है। बाबा तो भक्तों को दक्षिणा और उदी

द्वारा सत्य और असत्य का विवेक तथा असत्य के त्याग का सिद्धान्त समझाना चाहते थे। उदी में अध्यात्मिक प्रभाव के साथ-साथ भौतिक प्रभाव भी है, जिससे भक्तों को स्वास्थ्य समृद्धि, चिन्तामुक्ति एवं अनेक सांसारिक लाभ प्राप्त होते

सांसारिक अनाचार से दूर रहकर एकान्त में अपने इष्टदेव का चिन्तन करना सूफीवाद के मूल में है। अबुल फजल ने भारत में इसकी चौदह शाखाओं का उल्लेख किया है। इन सभी सूफी शाखाओं के सन्तों ने भारतीय समाज में फैले अन्धविश्वास, भाव को दूर कर बढ़ाने में अपनी अहं इन्होंने कर्मकाण्ड के किया और हृदय की भगवत्प्राप्ति पर जोर दिया। सूफियों की इन चौदह शाखाओं में चिश्ती शाखा ने भारतीय वेदान्त के सिद्धान्तों को अपना आधार बनाया तथा चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ईश्वर-भक्ति पर विशेष जोर दिया, जिससे भारतीय धार्मिक आन्दोलन को बल मिला।

सूफी सन्तों की इस परम्परा में शिरडी के साई बाबा के चरित और उनके सिद्धान्तों पर संक्षिप्त दिग्दर्श प्रस्तुत है।



रहे हैं।

अपने शिरडी निवास के दौरान बाबा ने हिन्दू-मुसलिम सद्भाव पैदा किया। शिरडी एक सदाबहार धर्मस्थल बन गया है, जहाँ प्रतिदिन अनेक श्रद्धालु जो विभिन्न धर्मों के धर्मावलम्बी आते हैं। मन्दिर और मस्जिद शिरडी में एक हो चुके हैं। उनकी समाधि पर चादर और फूल

मालाएँ अर्पित करने की परम्परा है। मूर्ति के पीछे दीवार पर लिखा है “रघुपति राघव राजा राम, पतित पावन साई नाम।” सतत ज्योति प्रज्वलित होती रहती है। एक दीप के उपर ‘श्रद्धा’ और दूसरे दीये के उपर ‘साबरी’ लिखा है। यही है बाबा का मूल मन्त्र।

साई बाबा हिन्दु और मुसलिम भाईचारे के मसीहा थे। वह मूर्तिपूजा करते और नमाज भी पढ़ते। द्वारिका माई मसजिद के एक कोने में साई बाबा का आसन था और दूसरे कोने में विशाल काले पत्थर का शिवलिंग स्थापित रहा- गोकुल अष्टमी, रामनवमी, चन्द्रोत्सव और ईद बाबा के प्रिय त्यौहार थे। ईद की सुबह बाबा ‘द्वारिका माई मसजिद में नमाज पढ़ते-पढ़ाते थे और रामनवमी को वेद पाठ किया करते और उत्सव भी धूम-धाम से मनाया करते थे।

आज भी शिरडी के समाधि मन्दिर में रामनवमी, विजयादशमी और गुरुपूर्णिमा के दिन मेले लगते हैं। अतः ‘शिरडी’ वह तीर्थ जहाँ काशी भी, काबा भी। परमधाम शिरडी श्रीस्थान है। महाराष्ट्र की सन्त परम्परा का विलक्षण और दिव्य आनन्द का धरा-धाम है। यह जीवन के सारे ‘अहं’ को क्षार कर जीवन की सार्थकता का सार है। यह है पावन धाम शिरडी, जिसकी छाया में आकर सारे सन्ताप शान्त हो जाते हैं। ‘शिरडी’ भगवान् साई बाबा की कार्यस्थली रही है। 15 अक्टूबर 1918 को साई बाबा की आत्मा ब्रह्मलीन हो गई। परन्तु स्नेह, समभाव और करुणा का प्रकाश बिखरने वाला दीप आस्था और श्रद्धा विश्वास का दीप कभी नहीं बुझेगा। शिरडी एक अद्भुत तीर्थस्थली बन चुकी है। आस्था का-मानवता का, अनेकता में एकता का और साझा संस्कृति प्रेम-भाईचारे का अमिट छाप लिए और अखण्ड सत् दीप जो सतत असीम ‘अन्धकार’ को नष्ट करनेवाली

अनन्त शक्ति से सम्पन्न तीर्थ बन गया।

उसने अपने धर्म का परिचय देते हुए कहा था- ‘फकीर’ और जाति की पहचान दी थी ‘परवरदिगार’ और कहा था- “मैं सतत रहूँगा”। बाबा की महासमाधि के आठ दशक हो गये हैं पर आज भी लोग बाबा की अनगिनत लीलाओं का अनुभव ओर विभूति, प्रसाद जो आस्था-श्रद्धा का प्रतीक से अपने दुःखों से मुक्ति पा रहे हैं। उनका उपदेश सभी के लिए एक ही था ‘राम’ और ‘रहीम’ एक ही हैं.. परस्पर प्रेम सद्भाव में रहो”- और सब का मालिक एक है।

उनके हाथ में अपरिमित यश चमत्कारी शामिल जीर्णशीर्ण रोगी उनके दरबार में आने और उदी प्राप्त करते। भक्त इस सतत जाज्वल्यमान ‘अग्नि’ और ‘भस्म’ से चमत्कारी लाभ आज भी प्राप्त कर रहे हैं।



उनका कहना था- “इनसान एक ही जन्म में सैकड़ों बार मरता है और सैकड़ों बार जन्म लेता है, जब कोई व्यक्ति झूठ बोलता है तो वह मरता है और जब वही सच बोलता है तो जन्म लेता है।.. मन-बुद्धि और अहंकार को बस में रखने वाले का ही ‘ब्रह्मज्ञान’ का रास्ता प्राप्त होता है। ‘ब्रह्मज्ञान’ आखिर है क्या? सत्कर्म, पाप से घृणा, ईश्वर से प्रेम, मोह-माया का त्याग, शुद्ध वाणी, शुद्ध आचरण, इन्द्रियों को वश में करना, लोभ का त्याग, गुरु-ज्ञान, मुक्ति की इच्छा, गुरु सेवा, सद्गुरु-ज्ञान, प्रभुकृपा और त्याग की भावना से ही ‘ब्रह्मज्ञान तक पहुँचा जा सकता है। तब मनुष्य आत्मस्वरूप हो जाता है।

साई बाबा की शिक्षा जन-जन को आकर्षित कर रही है। उन्होंने अपने विलक्षण अवतार कार्य में हर पल “जीव-कल्याण” की ही चिन्ता थी। सन्तों की परम्परा में श्रीसाई बाबा का स्थान विशेष महत्त्व रखता है; क्योंकि कर्म से नहीं, बल्कि जन्म से भी साम्प्रदायिक सद्भावना के

प्रतीक थे। उनका आविर्भाव हुआ था- समाज के बाह्य आडम्बरों से मुक्त कर बुनियादी उसूलों की ओर ले जाने के लिए। उन्होंने कहा था कि सब धर्मों का मूलतत्त्व एक है। इसलिए उनकी सीख थी- “सब का मालिक एक” “वसुधैव कुटुम्बकम्। सत्य-पथ ही ज्याति स्वरूप है। अन्धकार को नष्ट कर देने के लिए उनका सभी के लिए उपदेश था ‘राम और रहीम’ एक है- वैदिक ग्रन्थों और कुरान सहित सभी धर्मों के ग्रन्थों के सार का उपदेश दिया करते थे। उनके उपदेश “एकम् सद् विप्राः बहुधा वदन्ति” और “एकैव मानुषी जातिः” पर आधारित हुआ करते थे। समस्त मानव जाति को एक सूत्र में बाँधने का उनका प्रयास था। उनका कहना था- “मनुष्य जन्म शुभकर्मों के फलस्वरूप मिला है। उसकी सार्थकता तभी है, जब सेवा, सहायता सह त्याग, प्रेम, सद्भाव, घृणा का त्याग और निस्वार्थ से पूर्ण जीवन-यापन कर मुक्ति और मोक्ष प्राप्त कर सके। सदाचरण और सद्व्यवहार के साथ सतत सेवामय जीवन को मोक्ष प्राप्ति का साधन मानते थे और अपने जीवन में व्यावहारिक रूप से साकार भी किया। मैं सब में हूँ सब मुझमें है, परस्पर प्रेम करनेवालों को ही मेरा दर्शन प्राप्त होता है। जो मुझे अत्यधिक प्रेम करता है वह सदैव मेरा दर्शन पाता है... जो सतत मेरा ध्यान कर नाम जपता है, उसका ऋण अपने उपर लेकर मैं उसे मुक्त (आत्मोपलब्धि) करके चुका देता हूँ। समस्त प्राणियों में मेरा ही दर्शन करो, जो दूसरों को पीड़ा पहुँचाता है, मुझे ही कष्ट देता है- जो कष्ट सहन करता है, वह भक्त मुझे अतिशय प्रिय है.. अहंकार त्याग कर मुझ पर समर्पित हो जाओ। मैं तुम्हारे हृदय में आसीन हूँ। मैं न तो ईश्वर हूँ और न मालिक, केवल उनका आज्ञाकारी सेवक हूँ। जो निराभिमान हो अपने को कृतज्ञ समझ उनपर पूर्ण विश्वास करेगा, उसके कष्ट दूर हो जाएँगे और उसे मुक्ति भी प्राप्त होगी।



उन्होंने कहा था - मैं अनलहक्क (सोऽहम्) हूँ। बाबा ने नहीं कहा- मैं तो यादे हक्क (दासोऽहम्) हूँ। वह कहा करते थे... अल्लाह मालिक'... सब का मालिक एक... सदा उनके होठों पर रहता था। उनकी प्रिय पंक्तियाँ थी- “गरीबी अब्बल बादशाहि गरीबों का अल्ला भाई”। मैं न तो ईश्वर हूँ और न मालिक, केवल एक आज्ञाकारी सेवक हूँ, जो निराभिमान हो अपने को कृतज्ञ समझ उन पर पूर्ण विश्वास करेगा उसके कष्ट दूर हो जाएँगे और उसे मुक्ति भी प्राप्त होगी।

यदि पाप किया ही गया हो तो अपने सुन्दर सत्कर्मों से उसे ढँक देना चाहिए। ऐसा करने पर वह व्यक्ति इस लोक को उस प्रकार प्रकाशित करता है, जैसे मेघ से मुक्त चन्द्रमा प्रकाशित करता है। कोई व्यक्ति सदा के लिए पापी नहीं हो जाता। शारीरिक, वाचिक और मानसिक दुश्चरितों का परित्याग करने पर मनुष्य सदाचारी बन जाता है। वासना छोड़ दो, माया जोड़ने की बुद्धि छोड़ दो। वासनामय जीवन यापन करनेवालों को ही यमदूत गले में अपना फन्दा डालते हैं।

उन्होंने कहा था - सब की बात सोचो, पूरे की बात सोचो, अल्प में सुख नहीं है। सबकी बात सोचने के लिए एक ही आधार है, सबको एक ही परम पिता की सन्तान मानो, उसीके स्नेह से सबको पोषित मानो। प्रत्येक घटना में उसीका का कोई स्फुरण पहचानने की कोशिश करो। कोई अभिप्राय ढूँढो। आदमी जब यह सोचेगा तो सुख भारी पड़ेगा, दुःख रूई की तरह हल्का हो जायेगा।

उन्होंने कहा था - मार्ग भले ही अनेक हैं, पर लक्ष्य एक ही है। प्रभु एक है। सबका मालिक एक है। समग्र विश्व का उत्पादक, पालक और संहारक एक ही परमेश्वर है। सभी

पूजा-स्थलों पर सब का समान अधिकार है। सबको सब जगह अपने अपने ढंग से पूजा प्रार्थना करने का जन्मसिद्ध अधिकार है। किसी का किसी रीति-रिवाज से मतान्तर नहीं होना चाहिए। हम सब एक हैं। सारे देवी-देवियाँ एक हैं। मैं ही मस्जिद में हूँ। मैं ही मन्दिर में हूँ। प्रेम से बढ़कर कोई पूजा प्रार्थना या भक्ति नहीं है। प्राणिमात्र से प्रेम करो। इस प्रभूत परिश्रान्त हृदय का विश्रान्ति-स्थल एक प्रेम ही है। आत्मा स्वतः प्रेम स्वरूप है। प्रेम ही ईश्वर है।

उन्होंने कहा था -मनुष्य 'अहं' का परित्याग करके ही ईश्वर-द्वार तक पहुँचने में सक्षम है। जो श्रद्धापूर्वक मेरा नाम लेगा, मुझमें अखण्ड आस्था रखेगा उसे सब कुछ सहज ही समुपलब्ध हो जायेगा।' ....जब तुम मेरी शरण में आ जाओगे तो तुम्हारे योग-क्षेम' के वहन का दायित्व मेरा हो जाता है। जो श्रद्धा-विश्वास के साथ मेरी शरण में आ जाता है, उसके कल्याणार्थ में सतत सजग और सचेष्ट रहता हूँ। किसी भी प्राणी के साथ किसी प्रकार द्वेष-भाव नहीं रखो, निर्भय रहो। इस प्रकार भी प्रभु कृपा प्राप्त करेगा; प्रभु का राज्य पायेगा...।



वस्तुतः मनुष्य की आत्मा, मन-वाणी तथा शरीर को परिस्कृत कर सत् चित् और आनन्दरूप परमात्मा की उपलब्धि की ओर उन्मुख करने के लिए ही शरणागतवत्सल दयानिधान करुणासागर कल्याणस्वरूप साई बाबा शिरडी में फकीर रूप में प्रकट हुए थे।

शिरडी-यात्रा या शिरडी-सेवन का फल है 'भगवत्प्राप्ति' या 'भगवत्प्रेम'। सर्वलोकहितकारी भाव से सम्पन्न बाबा ने अपनी तपःशक्ति के द्वारा शिरडी के रजकणों में इतनी पवित्रता भर कर दी है कि उसके रज में चुम्बकीय आकर्षण शामिल है, जिसे मस्तक पर धारण करने से समस्त पाप ताप विलुप्त हो जाते हैं। अनुभव होता

है कि पवित्र आत्मा का यह एक विलक्षण सिद्धपीठ है, जो लोक कल्याणकारी लोकहित में समर्पित एवं अलौकिक उर्जा से परिपूर्ण है।

हृदय में मानव-कल्याण की भावना से भरे तथा देशप्रेम आपूरित मुसलमान एवं हिन्दु सन्तों का एक समूह बाह्य आडम्बरों एवं भेदभाव के विरुद्ध खड़ा हुआ और सूफी के नाम से जाना जाने लगा। सूफी शब्द का परम्परागत अर्थ है-साफ अर्थात् कलुषहीन बने रहना। इन सन्तों ने देशप्रेम में दीवाने होकर अपनी वेश-भूषा (कम और फटे-चिटे कपड़े) से अपनी अलग पहचान बनायी उन्हें "सूफी" कहा जाने लगा। आपसी भाईचारा प्रेम का वातावरण फैलाने वाली यह संस्कृति धीरे-धीरे जब मानस में गहरे उतरते चली गयी यह भाव एक आत्मीयता का रूप धारण करता गया। शताब्दियों की यात्रा तय करके यह संस्कृति विभिन्न, बल्कि अद्भुत रूपों में प्रकट होकर आज भी उस सत्य की ओर इंगित कर रही है, जिसे परमसत्य' कहा जाता है। यह परम सत्य है कि प्रत्येक आत्मा के अन्दर उसी परम ज्योति (नूरी) का अंश विद्यमान है अतः प्राणी मात्र में उसी 'एक' नूर का नूर प्रकाशित हो रहा है। इसलिए किसी भी प्राणी के प्रति वैमनस्य का भाव रखना उस परम पिता परमात्मा के प्रति दुर्भाव का पोषण करता है।

सूफी सन्तों द्वारा अपने हृदय के स्नेह से सींचे गए सद्भाव की जड़ें इतनी मजबूत एवं गहरी हैं कि उसका शुष्क होना प्रायः असम्भव है। सूफी सन्तों की दरगाहों पर हाजिरी देनेवाले असंख्य हिन्दुओं-मुसलमानों-सिख सभी सम्प्रदाय के लोग इस बात के प्रमाण हैं।

आज जिस मनोभाव से हम शिरडी जाते हैं वही मनोभाव हिन्दुस्तान के सारे मन्दिरों एवं मस्जिदों में प्रतिष्ठित किया जाना चाहिए।



कबीर ने भी कहा था-

**काशी काबा एक है, एकैं राम रहीम ।**

**मैदा एक पकवान बहु बैठ कबीरा जीम ॥**

आज हमारे चरित्र में संयम और नियमों के प्रति आदर भाव केवल धार्मिक मनोभावना से ही उत्पन्न किया जा सकता है। इसी साझी संस्कृति पर इकबाल का एक शेर है

**है राम के वजूद पर हिन्दुस्थान को नाज।**

**अहले नजर समझते हैं, इसके इनामे हिन्द।**

और 'अकबर' इलाहाबादी ने भी कहा -

**हिन्दु मुसलिम क्या हैं दोनों,**

**दोनों ही हैं एशिआई ।**

**हमवतन, हमजवाँ, हमकिस्मत,**

**क्यों न कह दें, भाई-भाई।'**

शिरडी आज साम्प्रदायिक एकता का प्रतीक बन चुका है। एकता और भाईचारे की भावना विकसित कर रहा है। सम्प्रदायिक हिंसात्मक वृत्ति के पोषकों एवं धर्म का दोहन करनेवालों को सदबुद्धि के लिए सरदार जाफरी का शेर है-

**एक हो जाओ कि सीनों में हम घुट जाने को हैं।**

**कौम का सरमाया ए इखलाक लुट जाने को है।**

वर्तमान परिस्थितियों में जहाँ राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर सम्प्रदायों के आधार पर लोग हिंसात्मक वातावरण में जीने को मजबूर हैं। विश्व में इन सूफी सन्तों की शिक्षाएँ विभिन्न सम्प्रदायों में सौहार्द का वातावरण कायम करने हेतु अत्यधिक प्रासंगिक हैं। इनके उपदेशों पर अमल कर विश्व में शान्ति एवं अमन चैन का साम्राज्य स्थापित होना संभव हो सकता है। खुदा एक, ब्रह्म एक है तो फिर भला फिरकापरस्ती कैसी?

देवों में "एको देवः" है। एक ब्रह्म विषयक सिद्धान्त हैं किन्तु अनेक देवों के रूप में उस ब्रह्म की दिव्य शक्तियों का वर्णन किया गया है। अनेक देवों के नाम इस एक ही ब्रह्म की ही संज्ञाएँ हैं। ऋषियों ने आरम्भ में ही तत्त्व को

सम्यक् रूप से जान लिया और निश्चित शब्दों में इसका उल्लेख किया है :-

**यो नः पिता जनति यो विधाता**

**धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।**

**यो देवानां नामधा एक एव**

**तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ।**

अर्थात् वह ईश्वर सबका पिता या पालक जनक है। वही इस विश्व के सकल धर्मों का विधायक है। वह समस्त भुवनों के विज्ञान का अधिपति है। देवों के जितने नाम हैं वे सब उसी एक ईश्वर में घटित होते हैं।

इसलिए तो साई बाबा का उपदेश है-  
"सब का मालिक एक है।"

यह श्रद्धा विश्वास स्वरूप है। श्रद्धा ही ईश्वर प्राप्ति का आधार है। श्रद्धा से ही ईश्वर तत्त्व का ज्ञान होकर परमशान्ति प्राप्त होनी है। श्रीरामचरित मानस में भी गोस्वामी तुलसीदास ने शंकर को विश्वास तथा भवानी को श्रद्धा का प्रतीक बताते हुए कहा है-

**भवानी शंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।**

**याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरमा।**

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में भी इसकी महत्ता बतायी है-

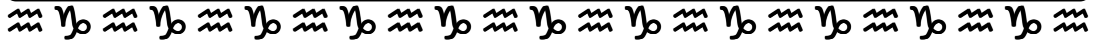
**श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।**

**ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥**

अर्थात् जितेन्द्रिय होकर श्रद्धावान् पुरुष ज्ञान को प्राप्त होता है और वह ज्ञान को प्राप्त होकर तत्क्षण भगवत् प्राप्ति रूप परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है। डॉ. राधाकृष्णन् ने भी कहा था- "मानव के जीवित रहने का एक ही रास्ता है- यह निष्ठा का, श्रद्धा का, धर्म का मार्ग जो हमें शक्तिमयी आशा से प्रेरित करता है। श्रद्धा ही हमें उत्तरोत्तर ईश्वर की ओर जाने के लिए प्रेरणा देती रहती है।

बी. ६२, पी० सी० कॉलोनी, लोहियानगर, पटना-२०





प्रथम भाग

## पौराणिक शाप कथाएँ : भारतीय मिथक

○ डॉ. जनार्दन यादव

भारतीय पौराणिक ग्रन्थों में अनेक कथाओं और अभिशप्त हो जाता है। लेकिन आज के

के पात्र शापग्रस्त हैं। ये शाप ऋषियों और देवताओं द्वारा दिये गये हैं। देवता भी शापग्रस्त हैं। वस्तुतः ये शाप समय-समय पर गलत काम करने के कारण, आज्ञा न

मानने के कारण अपमानित होने के कारण अहं का प्रदर्शन करने के कारण- एक पक्ष द्वारा दूसरे पक्ष को दिये गये हैं। शाप के अनुसार ही पात्रों के चरित्र का विकास होता है

उपदेश तीन प्रकार के माने गये हैं- प्रभुसम्मित, मित्रससम्मित और कान्तासम्मित। श्रुति एवं स्मृति प्रभुसम्मित उपदेश हैं तो काव्य कान्तासम्मित; किन्तु पुराण-साहित्य को मित्रसम्मित माना गया है। इसकी विशेषता है कि यहाँ कथाओं के द्वारा उदाहरण देकर बुरे रास्ते को छोड़कर अच्छे रास्ते अपनाने के लिए उपदेश दिये गये हैं। इसी शैली में पुराणों की शाप-कथाएँ महत्वपूर्ण हो जाती हैं। इन शापकथाओं के माध्यम से अकर्तव्य कर्म को सोदाहरण परिभाषित किया गया है। लेखक ने इस विषय पर विवेचना की है, जिसका प्रथम भाग इस अंक में प्रस्तुत है।

ब्रह्मतेज अर्थात् उर्जा का क्षय होता है। प्रत्येक व्यक्ति को अभिशप्त होने से बचने का उपक्रम करना चाहिये।

यदि पौराणिक साहित्य के

तथा अवसान भी। इन कथाओं में शापोद्धार का प्रसंग भी वर्णित है। शापोद्धार के लिए अनेक पात्र जन्म-जन्मान्तर की यात्रा करते हैं और पूर्व निर्दिष्ट समयानुसार उन पात्रों को शाप से मुक्ति मिलती है।

प्रश्न यह उठता है कि अनेक पात्र शापग्रस्त क्यों हो गये? शाप एक-दूसरे को दुःखी होकर देते हैं। आज भी भारतीय समाज में शाप दिये जाने की प्रथा काम कर रही है। जो व्यक्ति गलत काम करता है वह दूसरे का कोपभाजन बनता है

अनेक पात्र शापग्रस्त नहीं होते तो पौराणिक कथाओं का स्वरूप ही कुछ दूसरा होता। लेकिन एक बात है कि अभिशप्त और शापोद्धार का प्रसंग कथाओं में जुड़ जाने के कारण धर्म-अधर्म, नैतिकता-अनैतिकता, मर्यादा, नीति-अनीति, सुख-दुख, पाप-पुण्य, उदारता-अनुदारता, लाभ-हानि, जीवन-मरण, नियति, भाग्य, दैवी कोप, सर्जन-संहार, मान-अपमान, घृणा-प्रेम, प्रवृत्ति-निवृत्ति, कामना-साधना, आस्तिकता-नास्तिकता, राग-द्वेष, वीरता, साहस, दाम्पत्य भाव,

भक्ति-भाव की अनेक बातें कथाओं में जुड़ गई हैं और हमारे मन-प्राणों में बस गई हैं। ये कथाएँ भारतीय सांस्कृतिक और धार्मिक जीवन को उद्वेलित करती रही हैं।

कुछ शापित कथा प्रसंगों का उल्लेख करती रही हैं। कुछ शापित कथा प्रसंगों का उल्लेख करते हुए आलेख को आगे बढ़ाता हूँ। जब सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र काशी में ऋषि का ऋण चुकाने के लिये सपरिवार बिक रहे थे, उसी समय विश्वामित्र दक्षिणा माँगने के लिये पहुँचे। आकाश में विमान पर पाँचों विश्वेदेवों ने विश्वामित्र को धिक्कारते हुए यह श्लोक कहा-

**धिक् तपो धिग् व्रतमिदं  
धिग् ज्ञानं धिग् बहुश्रुतम् ।  
नीतवानसि यद् ब्रह्मन्  
हरिश्चन्द्रमिमां दशाम् ॥**

विश्वेदेवों को क्षत्रियों का पक्षपाती कहकर शाप दिया कि अभी विमान से गिरो, क्षत्रिय कुल में तुम्हारा जन्म हो और वहाँ भी लड़कपन में ही ब्राह्मण के हाथों मारे जाओ। यही पाँचों विश्वेदेव विश्वामित्र के शाप से द्वापर युग में द्रौपदी के पाँच पुत्र के रूप में उत्पन्न हुए थे, जिन्हें अश्वत्थामा ने महाभारत की आखिरी रात उनके शैशव में ही पाण्डव-शिविर पर हमला करके मार डाला था।

चन्द्रवंशी राजा ययाति का विवाह असुर गुरु शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी से हुआ और साथ में दासी बनकर असुर राजा वृषपर्वा की बेटी शर्मिष्ठा आई। शर्मिष्ठा के आग्रह पर राजा ने उसे भी अपनी पत्नी बना लिया। देवयानी ने इस बात की शिकायत अपने पिता से की और पिता ने ययाति को शाप दिया कि इसी समय बूढ़ा हो जा।

ययाति ने क्षमायाचना की तो शुक्राचार्य ने शाप निवारण के लिये कहा कि यदि कोई पुरुष अपनी जवानी देकर बुढ़ापा ले ले तो काम चल सकता है। इस पर ययाति ने अपने पाँचों पुत्रों से निवेदन किया। पाँचवाँ पुत्र पुरु ने पिता को यौवन लौटा दिया और जंगल की ओर प्रस्थान कर गये।

जयद्रथ सिन्धु देश का राजा वृद्धक्षत्र का पुत्र था। बहुत तपस्या के बाद वह पैदा हुआ था। जन्म के समय ही आकाशवाणी हुई कि यह यशस्वी होगा। लेकिन एक श्रेष्ठ क्षत्रिय के द्वारा सिर काटे जाने से इसकी मृत्यु होगी। इस पर पिता ने शाप दिया कि जो इसका सिर काटकर अपने हाथ से धरती पर गिरायेगा, उसके सिर के सौ टुकड़े होंगे। जब अर्जुन ने युद्धभूमि में जयद्रथ का सिर काट लिया तो श्रीकृष्ण के आदेशानुसार उसके पिता की गोद में गिरा दिया। इसके पिता तपस्या में थे। जब आँखें खुलीं और जयद्रथ का सिर देखते ही हाथ से गिर पड़ा। उसी समय उसके सिर के सौ टुकड़े हो गये। दूसरी कथा है कि जयद्रथ के पिता ने शंकर से वरदान ले रखा था कि जिसके द्वारा मेरे पुत्र का मस्तक पृथ्वी पर गिरे, उसके अपने मस्तक के सौ टुकड़े हो जायें। जिस समय उसका सिर कटा, उस समय उसके पिता कुरुक्षेत्र से दूर किसी पवित्र स्थान में तप कर रहे थे।

राजा के सिपाही व सरदार ने महर्षि माण्डव्य के आश्रम में डाकुओं को पकड़ा और राजाज्ञा के कारण डाकुओं के साथ में महर्षि को भी सूली पर चढ़ा दिया। ज्ञात हुआ कि महर्षि सूली पर भी जीवित हैं तो राजा क्षमाप्रार्थी हुए। इसके बाद माण्डव्य धर्मदेव के पास गये और पूछा कि कौन से पाप के कारण दारुण दुःख झेलना पड़ा?

धर्मराज ने बताया- बचपन में आपने चिड़ियों और टिड़ियों को पकड़कर सताया था। लेकिन बचपन में किये गये कर्म को पाप न समझकर मुनि ने धर्मराज को शाप दिया कि तुम मर्त्यलोक में जाकर मनुष्य योनि में जन्म लो, क्योंकि मुझे न्यायोचित मात्रा से अधिक दण्ड मिला है। इसी शाप के कारण अम्बालिका की दासी विनता के गर्भ से धर्मराज ने विदुर के रूप में जन्म लिया विदुर बहुत बड़े नीतिज्ञ, दार्शनिक थे। भगवान् श्रीकृष्ण इनके साग खाकर तृप्त हुए। विदुर का विवाह राजा देवक की अत्यन्त रूपवती कन्या परशवी से हुआ था।

द्वार के अन्त में राजा प्रतीप के पुत्र शान्तनु हुए। शान्तनु गंगा तट पर सुन्दर स्त्री पर आसक्त हुए। यह स्त्री गंगा थी। गंगा ने शान्तनु से शर्त के अनुसार विवाह किया था। गंगा को आठ पुत्र हुए। सात को उसने नदी में बहा दिया। गंगा महर्षि जहनु की कन्या थी। वशिष्ठ ने आठ वसुओं को अपनी कामधेनु गाय चुराने के आरोप में मर्त्यलोक में जन्म लेने का शाप दिया था और वसुओं ने गंगा से माता बनने की प्रार्थना की थी। आठवाँ पुत्र 'द्यु' नामक वसु था जो देवव्रत और आगे चलकर भीष्म के नाम से विख्यात हुआ। गंगा भीष्म को छोड़कर शान्तनु के जीवन से चली गई। गाय चुराने में आठवें वसु की अहम् भूमिका थी। वशिष्ठ ने वसुओं की प्रार्थना पर शापमुक्ति का उपाय बताते हुए कहा था कि सात वसुओं की मुक्ति तो शीघ्र हो जाएगी लेकिन आठवें 'द्यु' नामक वसु को पृथ्वी पर शापमुक्ति के लिये लम्बे समय तक रहना पड़ेगा। इसी कारण भीष्म पितामह को महाभारत युद्ध समाप्ति के उनसठवें दिन सूर्य के उत्तरायण होने पर ही

शाप से मुक्ति मिल सकी। उन्होंने आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन किया था, इसलिये इच्छा मृत्यु प्राप्त हुई। वे एक महान् योद्धा थे तथा अपने गुरु महर्षि परशुराम को भी युद्ध में परास्त किया था जिस कारण परशुराम ने किसी क्षत्रिय को युद्ध-कला की शिक्षा नहीं देने की शपथ ली थी। पूर्व में महर्षि परशुराम का चरित्र क्षत्रियविनाशक का रहा था।

महर्षि जमदग्नि के पुत्र परशुराम विष्णु के अंशावतार थे। वे वीर और तपस्वी थे। उनमें क्षात्रशौर्य भी था और उग्र ब्राह्म तेज भी। संस्कृत में उनके विषय में एक श्लोक प्रसिद्ध है-

**अग्रतः चतुरो वेदाः पृष्ठतः सशरं धनुः।**

**इदं ब्राह्म इदं क्षात्रं शापादपि शरादपि॥**

अर्थात् परशुराम के आगे चारों वेद और पीठ पर बाणयुक्त धनुष है। एक ब्राह्मणत्व है, एक क्षत्रियत्व। वे शत्रु को शाप से भी पराजित करते हैं और शर से भी। कर्ण परशुराम से शापित हुए थे। महेन्द्र पर्वत पर परशुराम का आश्रम था। यह पर्वत उड़ीसा से लेकर मदुरा तक विभिन्न शृंखलाओं में बिखरा हुआ है। परशुराम ने सम्पूर्ण भारत की यात्रा की थी। जहाँ रहे वही आश्रम रहा। यही पर कर्ण शस्त्र-शिक्षा के लिये गये थे और पूर्णिमा के दिन शापित हुए थे। कर्ण ने उनसे झूठ बोला था कि वे ब्राह्मण कुमार हैं, क्षत्रिय नहीं। तब महर्षि ने उन्हें अपना शिष्य बनाया। एक दिन गर्मी में महर्षि कर्ण की जंघा पर सिर रखकर सो गये थे। उसी समय अलर्क नामक एक जहरीला कीड़ा ने कर्ण की जंघा में काट लिया। अलर्क नामक कीड़ा बहुत कुछ पटार, कानखजूरा आदि कीड़ों की ही जाति है। अलर्क को लेकर कहा गया है कि उसके आठ पैर,

शरीर पर सूई जैसे रोंगटे और तीखी दाढ़ होती है। इसके डंक मारने पर असह्य पीड़ा होती है। कर्ण की जंघा से लहू की बहती धारा के स्पर्श होने से महर्षि की नींद टूटी तो उन्होंने कर्ण से पूछा और उन्हें यह भी शक हो गया कि ऐसा सहनशीलता ब्राह्मण कुमार में नहीं हो सकती। निश्चित ही यह क्षत्रिय है और तत्क्षण उन्होंने शाप दिया कि समय पड़ने ब्रह्मास्त्र की विद्या तुम्हें विस्मृत हो जाएगी। भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य ने भी महर्षि परशुराम से शस्त्र-विद्या सीखी थी। कर्ण के जीवन से एक और शाप कथा जुड़ी हुई है जो इस प्रकार है-

एक दिन कर्ण महेन्द्र पर्वत पर अकेला बाण चलाने का अभ्यास कर रहा था कि इतने में दैवयोग से आश्रम के नजदीक चरनेवाली एक गाय को उसका बाण लग गया और वह गाय मर गई। जिस ब्राह्मण की वह गाय थी उसने क्रोध में आकर कर्ण को शाप दिया कि युद्ध में तुम्हारे रथ का पहिया कीचड़ में धँस जाएगा और तुम भी उसी तरह मारे जाओगे जैसे मेरी गाय मारी गई। वास्तव में युद्ध के समय रक्त के कीचड़ में कर्ण के रथ का चक्का धँस गया था जिसे वह निकालने का प्रयत्न कर रहा था। उसी समय अर्जुन ने अपने बाण से कर्ण का सिर काटकर पृथ्वी पर गिरा दिया और वह गाय की तरह ही मरा।

भीम के पौत्र और घटोत्कच के पुत्र बर्बरीक बहुत बलवान् थे। जब श्रीकृष्ण ने पाण्डव पक्ष के सभी योद्धाओं से पूछा कि कौन कितने दिनों में महाभारत का युद्ध समाप्त कर सकता है तो बर्बरीक ने कहा कि मैं पलक झपकते युद्ध समाप्त सकता हूँ और उसने इसका प्रमाण भी

दिया। तत्क्षण श्रीकृष्ण ने सुदर्शन चक्र से उसकी गर्दन काट ली। बर्बरीक के मरने पर सब लोग भौंचक्के रह गये। पाण्डव शोक में डूब गये। घटोत्कच मूर्छित होकर गिर पड़ा। उसी समय वहाँ चौदह देवियाँ आईं। उन्होंने घटोत्कच और पाण्डवों को बताया कि बर्बरीक पूर्व जन्म में सूर्यवर्चा नामक यक्ष था। देवता ब्रह्माजी के साथ जब पृथ्वी का भार उतारने के लिये पर्वत पर भगवान् नारायण की स्तुति कर रहे थे, अहंकारवश उस यक्ष ने कहा था- “पृथ्वी का भार तो मैं ही दूर कर दूँगा।” उसके गर्व के कारण रुष्ट होकर ब्रह्माजी ने शाप दे दिया कि भूमि का भार दूर करते समय भगवान् उनका वध करेंगे। ब्रह्माजी के उस शाप को सत्य करने के लिये ही भगवान् श्रीकृष्ण ने बर्बरीक को मारा है।

एक दिन महाराजा पाण्डु वन में शिकार खेलने गये। वहीं जंगल में हरिण के रूप में किर्दम ऋषि-दम्पती भी विहार कर रहे थे। पाण्डु ने अपने तीर से हरिण को मार गिराया। उनको पता नहीं था कि वे ऋषि-दम्पती हैं। ऋषि ने मरते-मरते पाण्डु को शाप दिया कि “पापी, अपनी पत्नी के साथ क्रीड़ा करते हुए ही तुम्हारी भी मृत्यु हो जाएगी।” ऋषि के शाप से दुखी पाण्डु लौटकर पितामह भीष्म और विदुर को राज्य का भार सौंपकर अपनी पत्नियों के साथ वन में जाकर ब्रह्मचारी जैसा जीवन बिताने लगे। एक दिन वसन्त ऋतु के प्रभाव से उनके मन में कामवासना जाग्रत हो उठी। वे माद्री के साथ क्रीड़ा करने का आतुर हो उठे। माद्री ने बहुत रोका, परन्तु पाण्डु न माने। कामवश बुद्धि खो बैठे और ऋषि के शाप का असर हो गया। तत्काल उनकी मृत्यु हो गई। उन्हीं की चिता पर माद्री भी जल गयी।

महाभारत युद्ध के दिनों कुन्ती ने अपने पाँचों पुत्रों से यह बात छिपा रखी थी कि कर्ण उसका बड़ा भाई है क्योंकि कर्ण ने ही कुन्ती से ऐसा वचन लिया था। युद्ध के बाद महाराज युधिष्ठिर को यह बात जानकर बहुत व्यथा हुई। उन्होंने कुन्ती से कहा- “माँ! तुमने कर्ण के जन्म के रहस्य को छिपाये रखा। इस कारण हमें उसका असली परिचय न मिल सका। इसी कारण मुझे इतनी व्यथा हो रही है। यह सब तुम्हारे कारण ही हुआ। मैं शाप देता हूँ कि आज से स्त्रियाँ किसी भी रहस्य को गुप्त न रख सकेंगी।” कथा पौराणिकों की कल्पना मालूम होती है। प्रायः लोग समझते हैं कि स्त्रियाँ किसी भी रहस्य को हजम नहीं कर सकतीं। इसी लोकमत के आधार पर इस कहानी की सुन्दर ढंग से कल्पना की गई है। किसी रहस्य को गुप्त रखने से दुनियादारी की दृष्टि से चाहे फायदा हो या नुकसान, धार्मिकता की दृष्टि से है। यह इतना उत्तम गुण नहीं समझा जाता। अतः स्त्रियों को इस बात को कभी महसूस करने की कोई आवश्यकता नहीं। किसी बात को गुप्त रखने की शक्ति न होना धर्म के पथ पर रोड़ा नहीं बन सकता। सम्भव है कि स्वाभाविक प्रेम के कारण ही स्त्रियाँ किसी बात को गुप्त रखने में असमर्थ होती हों। लोकमत ऐसा होने पर भी, कितनी ही स्त्रियाँ ऐसी हैं जो रहस्यों को भली-भाँति गुप्त रख लिया करती हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि सभी पुरुषों में बात पचाने की सामर्थ्य होती है। भिन्न-भिन्न अभ्यासों व वृत्तियों के कारण प्रायः लोग में जो भिन्नताएँ दिखाई देती हैं उन्हें स्त्रियोचित या पुरुषोचित कहकर विभक्त कर देना संसार का स्वभाव है।

काम्यक वन में मैत्रेय ऋषि को युधिष्ठिर से भेंट हुई और उन्होंने ऋषि को हस्तिनापुर में घटी घटना का सारा वृत्तान्त सुनाया। वे हस्तिनापुर आये और दुर्योधन को समझाया कि पाण्डवों को धोखा देने का विचार छोड़ दो, वे बड़े वीर हैं उनके साथ सन्धि कर कर लो, इसी में तुम्हारी भलाई है। लेकिन जिद्दी व नासमझ दुर्योधन ने उनकी ओर देखा तक नहीं, कुछ बोला भी नहीं, बल्कि अपनी जाँघ पर हाथ ठोकता और पैर के अंगूठे से जमीन कुरेदता वह मुस्कुराता हुआ खड़ा रहा। दुर्योधन की इस ढिठाई को देखकर महर्षि बड़े क्रोधित हुए। उन्होंने कहा- दुर्योधन, तुम इतने अभिमानी हो कि जो तुम्हारा भला चाहते हैं, उनकी बातों पर ध्यान न देकर गरूर में जाँघ ठोक रहे हो। याद रखो, अपने घमण्ड का फल तुम अवश्य चखोगे। लड़ाई के मैदान में भीमसेन की गदा से तुम्हारी यह जाँघ टूटेगी और इसी से तुम्हारी मृत्यु होगी। इस प्रकार शाप देकर वे चले गये। महाभारत युद्ध के दिनों गान्धारी ने अपनी आँखों की पट्टी खोलकर अपने पुत्र दुर्योधन के सम्पूर्ण शरीर को वज्र बना दिया लेकिन जाँघ पर वस्त्र रहने के कारण जाँघ वज्र नहीं बन सकी क्योंकि गान्धारी ने दुर्योधन को सम्पूर्ण शरीर अनावृत करके आने के लिये कहा था। लाज के मारे वह ऐसा नहीं कर पाया। दूसरी बात यह भी थी कि दुर्योधन इन्हीं जँघाओं पर पांचाली को अनावृत करके बैठाना चाहता था और भीम ने प्रतिज्ञा की थी कि तेरी जँघा चूर-चूर करूँगा और गदा-युद्ध में उसने ऐसा ही करके दुर्योधन को परास्त किया।

इन्द्रालिक पर्वत पर तपस्या करते हुए महादेव की कृपा से अर्जुन को पाशुपत अस्त्र एवं

दिव्यास्त्र मिला। इसके बाद वहाँ पर देवराज इन्द्र के सारथि मातलि ने देवराज इन्द्र का रथ लाकर खड़ा कर दिया जिस पर बैठकर अर्जुन इन्द्रलोक गये। वहाँ पर पर उर्वशी ने उससे प्रेमयाचना की लेकिन अर्जुन ने यह कहकर इन्कार कर दिया कि आप मेरी माता समान हैं। इससे नाराज होकर उसने शाप दिया कि तुम्हारा पुरुषत्व नष्ट हो जाये। इसके बाद देवराज इन्द्र ने अनुग्रह करके अर्जुन को बताया कि तुम जब चाहो तभी केवल एक वर्ष के लिए ही उर्वशी के शाप का यह प्रभाव तुम पर रहेगा। वस्तुतः उसी शाप ने अज्ञातवास में अर्जुन का साथ दिया। राजा विराट के यहाँ उसने सफेद शंख की चूड़ियाँ पहन, स्त्रियों की भाँति चोटी गूँथ, कंचुकी पहनकर वह विराट के अन्तःपुर में रहकर स्त्रियों को नाच-गाना सिखाया करते थे और अपना नाम बृहन्नला रखा था।

ब्रह्म-हत्या के दोष से पीड़ित होकर पदच्युत होने के बाद इन्द्र कहीं जाकर छिपे रहे और देवराज के पद पर महाराज नहुष सुशोभित हुए। लेकिन, इस पद पर वे मदान्ध हो गये तथा भोग-विलास में लगे रहने के कारण उनके मन में कामवासना का निवास हो गया। उन्होंने इन्द्र पत्नी शची को अपनी पत्नी बनाने के लिये कुचक्र शुरू कर दिया। इससे शची डर गई बृहस्पति के पास गयी तथा उनके निर्देशानुसार ही नहुष के पास जाकर बोली 'कि देवराज! धीरज रखिये। आखिर मुझे आपकी ही तो होना है।' दूसरी भेंट में शची ने नहुष से कहा कि आप पालकी में बैठकर मेरे महल में आवें और सातों ऋषि (सप्तर्षि) आपकी पालकी उठाकर चलें। नहुष ने कहा- 'तुम्हारी जो भी इच्छा हो, उसे मैं पूरा करूँगा नहुष ने सातों ऋषियों को भुला भेजा और

आज्ञा दी कि उसकी पालकी उठाकर उसे शची के महल को ले चलें। ऋषियों ने लाचार होकर आज्ञा मान ली। ऋषियों का यह घोर अपमान देखकर तीनों लोक भय से काँप उठे। नहुष की पालकी को उठाये हुए ऋषि ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते जाते थे त्यों-त्यों नहुष के पाप को बोझ भी बढ़ता जाता था। नहुष के मन में तो शची की सुन्दर मूर्ति अंकित थी और उसके मिलने की कल्पना से ही वह उतावला हो उठा था। जितनी जल्दी हो सके, उस सुन्दरी को प्राप्त करने की उसकी उत्कण्ठा बलवती हो गई। वह बार-बार ऋषियों को डाँटकर कहने लगा कि जल्दी चलो और जल्दी चलो। अगस्त्य मुनि को, जो पालकी उठाने वालों में से थे, उन्हें लात मारकर डांटते हुए कहा- 'सर्प! सर्प!' अर्थात् चलो, चलो!!' महर्षि अगस्त्य को जब नहुष ने इस प्रकार कहा तो उसके पाप का घड़ा लबालब भर चुका था। इस व्यवहार से अगस्त्य ऋषि बड़े क्रुद्ध हुए और बोले- 'अधम! अभी तेरा स्वर्ग से पतन हो। तूने ऋषियों को 'सर्प!' कहकर पुकारा है, इसलिये तू सर्प (अजगर) का ही जन्म लेकर मर्त्यलोक में पड़ा रह। अगस्त्य का इस प्रकार शाप देना था कि नहुष पालकी से नीचे औंधे मुँह गिर पड़ा और अजगर का शरीर लेकर पृथ्वी में बहुत काल तक जीता रहा और शाप से छुटकारा पाने की राह देखता रहा। इन्द्र पुनः देवराज पद पर सुशोभित हुए और शची देवी का मन शान्त हो गया।

\* \* \*

अशोक वाटिका में सीता ने जब रावण का प्रेम प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया तो रावण सीता की ओर क्रोधित होकर झपटा लेकिन उसी समय उसे नल-कुबर के शाप का स्मरण हो आया कि यदि तू किसी पराई सती नारी के साथ जबरन

व्यभिचार करेगा तो जलकर राख हो जाएगा। रावण ने नल-कूबर की पत्नी के साथ बलात्कार किया था इसलिये नलकूबर ने उसे शापित किया था।

दनु नामक एक गन्धर्व था, जो राक्षसी वेश धारण कर ऋषियों को डराता और अपना मनोरंजन करता था। एक दिन दुर्वासा (स्थूलशिरा) नामक ऋषि ने शाप दिया कि तू इसी रूप में रह। बहुत विनती करने पर शापमुक्त होने का उपाय बताते हुए उन्होंने कहा कि जब राम और लक्ष्मण आवेंगे तो तुम्हारे हाथ काटकर तुम्हें गढ़े में जिन्दा जलाकर शापमुक्त करेंगे। तब तुम्हारा पूर्व शरीर और ज्ञान-विज्ञान लौट आवेगा। एक बार इन्द्र से कबन्ध की लड़ाई हुई। ब्रह्मा से दीर्घायु का वरदान प्राप्त कबन्ध मरा तो नहीं लेकिन इन्द्र के वज्र से उसके दोनों पैर और मस्तक स्कंध में घुस गये। इसलिये वह कबन्ध कहलाया। जटायु के दाह-संस्कार के बाद राम-लक्ष्मण की कबन्ध से भेंट हुई और उन्होंने कबन्ध का उद्धार किया। गन्धर्व शरीर प्राप्त कर कबन्ध ने सीता-हरण और शबरी का पता बताया तथा सुग्रीव और हनुमान् के बारे में भी जानकारी दी। कबन्ध ने ही शबरी को राम के आगमन की सूचना दी थी। शबरी मतंग मुनि की शिष्या थी। राम जब चित्रकूट आये थे तो मतंग ऋषि अपने ऋषियों के साथ स्वर्गारोहण कर चुके थे। शबरी ने भी गन्धर्व की बातों का समर्थन किया तथा पम्पा सरोवर एवं ऋष्यमूक पर्वत के बारे में बताकर महाप्रस्थान किया।

संध्याकाल में गायत्री जाप का विशेष महत्त्व है। इसी काल में मन्देह राक्षस सूर्य से तुमुल संघर्ष कर उसे निगल जाना चाहते हैं। क्योंकि प्रजापित ने इन राक्षसों को सदैव मृत्यु को प्राप्त होने का शाप दिया हुआ है। अतः यदि गायत्री उपासक सन्ध्याकाल में मन्त्र जप करता है तो उससे सूर्य को बल मिलता है।

एक बार इन्द्र की सभा में महर्षि दुर्वासा पधारे। वहाँ अनेक परियों के बीच पुंजिकस्थला उपस्थित थी, जो बार-बार उठकर बाहर चली जाती थी। महर्षि दुर्वासा उसकी यह कुचाल देखकर क्रोधित हो गये तथा उन्होंने उसे शाप दिया कि अरी पुंजिकस्थला की बच्ची! इतने बड़े-बड़े लोग के बीच अपनी चटक-मटक, रूप-रंग, बनाव-सिंगार पर इतराती हुई जो बन्दरिया बनी तू इधर से उधर उछलकूद मचा रही है, तो जा, तू वानर नाम के मानुषों में जाकर रह, यहाँ अमरावती में देवताओं के यहाँ तेरी जैसी चुलबुली छिछोटी का कोई काम नहीं है। बाद में थोड़ा नरम पड़ते हुए उन्होंने कहा कि तूने काम तो बहुत बुरा किया, लेकिन, जा, तू वानर नामक मानुषों के यहाँ जन्मेगी तो सही, पर तेरा बेटा ऐसा धाकड़, करोड़ों में एक निकलेगा कि कोई उससे टक्कर न ले सकेगा और वही तेरा नाम भी उजागर करेगा। जिस दिन उसकी बात सुनकर तेरा जी खिल उठेगा, उसी दिन तू यहाँ लौट भी आवेगी। इसी पुंजिकस्थला का जन्म अञ्जनी के रूप में हुआ जो वानर नाम के मानुषों के मुखिया कुंजर की बेटा थी। इसी अञ्जना के पुत्र हुए हनुमान्। एक दिन राम-रावण युद्ध के पश्चात् हनुमान् कदली वन में धूम रहे थे कि उन्हें अपनी माता की याद आई। वे अपनी माँ के पास पहुँच गये। उसे देखते ही अञ्जनी ने मुँह फेर लिया तथा पूछने पर बोली कि मेरे पास आते तुझे लज्जा नहीं लगी? तेरे होते हुए राम को लंका जाने के लिये पुल बनाना बड़ा और तू वहाँ खड़ा-खड़ा सबका मुँह ताकता रहा। क्यों नहीं रावण को पकड़कर घसीटता हुआ श्रीराम के पास ले आया या इस पार से उस पार लंका तक समुद्र पर फ़ैलकर लेट रहा जिससे सारी सेना तेरे ऊपर से होकर उस पार पहुँच जाती। हनुमान् ने बड़ी मीठी बोली में समझाते हुए कहा कि माँ! मैं



तो श्रीराम का चाकर हूँ। वे जितना आदेश देते हैं, उतना ही मैं करता हूँ... यह सुनते ही अंजना का मातृत्व जग गया। उसने भरे गले से प्यार के साथ हनुमानजी को गोद में खींच कर बैठाया और बोली- मेरे प्यारे बेटे! तेरी बात सुनकर मेरा जी खिल उठा है, मेरे सिर पर चढ़ा शाप भी उतर चला है। अब मैं बड़े सुखी मन से भगवान् इन्द्र के पास चली जा रही हूँ।

सूर्यदेव से शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् हनुमान् अपने घर आ गये। इन्द्र ने उनकी ढोढ़ी (हनु) पर वज्र प्रहार किया था, इसलिये वे इन्द्र का नाम लेने वाले को अपनी गदा से पीट देते थे। एक दिन भृगु और अंगिरा ऋषि इन्द्र का आवाहन कर रहे थे। हनुमान् ने सुन लिया। वे जंगल में जाकर एक नाहर और एक हाथी पकड़ लाये तथा उन्हें भृगु और अंगिरा ऋषियों की कुटियों के आगे लाकर बान्ध दिया जिससे उनका बाहर निकलना ही दूभर हो गया। ऋषियों ने क्रोधित होकर हनुमान् को शाप दिया कि तू जिस उजड़ुपन और अक्खड़पन से ऋषियों को तंग करता है आज से तेरी शक्ति की सुध-बुध तेरी खोपड़ी से दूर हो जाएगी और यह तभी आयेगी जब कोई तुझे उकसाकर बतायेगा कि तू महावीर है। इसी शाप के कारण हनुमान् को बार-बार उनकी महाशक्ति का स्मरण कराया जाता था, तब वे किसी कार्य को तत्क्षण कर डालते थे। शाप के कारण लम्बी अवधि के पश्चात् उनका अपने आराध्य श्रीराम से मिलने हुआ था।

संजीवनी बूटी लाने के लिये हनुमान् दूनागिरी (द्रोणगिरी) पहुँचे। भगवान् बद्रीनाथ की प्रेरणा से वे दूनागिरि निवासिनी दृष्टिहीना वृद्धा कौतुकी को कन्धे पर बैठकर पर्वतराज के निकट गये। हनुमान् ने वहाँ पर्वतराज की दाँयी भुजा उखाड़ ली और उड़ चले। पर्वतराज की भुजा टूट जाने से खून

की धारा बह चली। कौतुकी का ठण्ड में वहीं प्राणान्त हो गया लेकिन मरने से पूर्व उसने अपने पुत्र मुकुन्दन को सारी बात बताकर हनुमान् को शाप दिया कि जा हनुमान् तू हड़बड़ी में मुझे वापस गाँव छोड़ने की बजाय यहीं मरता छोड़ गया। तू इसी उत्तराखण्ड में भटकता रहेगा। हनुमान् राम की जलसमाधि के बाद उत्तराखण्ड में यमुनोत्री के रूप में विराजमान हुए। पर्वत बान्दर पूँछ हनुमान् स्वरूप पर्वत माना जाता है और इसके ग्लेशियर से निकला जल ही यमुना नदी का स्रोत है। पर्वतराज दूनागिरी के ग्राम देवता हैं। आज भी दूनागिरी गाँव के लोग युगों बीत जाने के बाद भी कौतुकी माता की मृत्यु के लिये हनुमान् को कोसते हैं। इस गाँव में हनुमान् की पूजा-अर्चना नहीं होती। भूले-भटके यदि कोई बन्दर दीख जाता है तो गाँव के लोग उसे हनुमान का वंशज समझकर डार-धमकाकर भगा देते हैं।

जब दुन्दुभि नामक मायावी राक्षस को मारकर बालि ने उसे उछालकर दूर फेंका तो ऋष्यमूक पर्वत पर मतंग मुनि के आश्रम पर उसके लहू का छींटा पड़ा। इस पर क्रोधित होकर मतंगमुनि ने बालि को शाप दिया कि यदि तू ऋष्यमूक पर्वत पर आयेगा तो मेरे भी सिर के सौ टुकड़े हो जाएँगे। इसी शाप के डर से बालि ऋष्यमूक पर्वत पर नहीं जाता था। इसी पर्वत पर सुग्रीव हनुमान् और अपने मंत्रियों के साथ निर्वासित जीवन व्यतीत कर रहे थे। यहीं पर हनुमान्जी के प्रयास से राम-सुग्रीव मैत्री हुई।

( क्रमशः )

ग्रा०+पो०- नरपतगंज  
जिला-अररिया ( बिहार )  
पिन कोड- ८५४३३५





## रामकथा के ऋषि : नारद

○ डॉ० शिववंश पाण्डेय

**रा**मकथा में ऋषियों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। रामकथा के प्रमुख ऋषियों में वसिष्ठ, विश्वामित्र, शृंगी, नारद, गौतम, भारद्वाज, वाल्मीकि, सुतीक्ष्ण, सुयज्ञ आदि विशेष रूप से परिगणनीय हैं। किसी न किसी रूप में रामकथा के सूत्रण, संवर्द्धन में उनका उल्लोखनीय योगदान रहा है। पार्वती को शंकर के साथ विवाह करने के लिए प्रेरणा देने वाले नारद ही रहे हैं

ब्रह्मा के पुत्र नारद के विषय में भ्रान्त अवधारणाएँ लोगों के मानस पटल पर अंकित हो चुकी हैं। कलहोत्पादक एवं हास्योत्पादक का रूप उनके सम्बन्ध में स्थायी भाव बन चुका है; किन्तु ग्रन्थों के अवलोकन से नारद सौम्य, शान्त, श्रेष्ठ विद्वान् परोपकारी ऋषि प्रतीत होते हैं। ब्रह्माण्ड में होने वाली कालजयी एवं जगत्कल्याणकारी श्रेष्ठ कार्यों में नारद की भूमिका रही है। उनके कार्यों और उनकी उपलब्धियों पर विवेचन यहाँ प्रस्तुत है।

और नारद के सत्य के कारण ही भगवान विष्णु को रामावतार में पत्नी वियोग का कष्ट झेलना पड़ा था। इसकी कथा इस प्रकार है। नारद को इस बात का अहंकार हो गया था कि उन्होंने काम पर विजय प्राप्त कर ली है। उनका अहंकार मिटाने के लिए भगवान् विष्णु ने एक नगर का निर्माण कराया, जहाँ एक अति रूपवती कन्या का स्वयंवर हो रहा था। कन्या के रूप और गुण को देख-जानकर नारद उस कन्या से विवाह करने के लिए उतावले हो उठे। वे विष्णु के पास गए और उनसे प्रार्थना की कि उनका मुख ऐसा सुन्दर और आकर्षक बना दिया जाय कि स्वयंवर में

कन्या उन्हीं का वरण करे। विष्णु ने नारद का मुख बन्दर का बना दिया। स्वयंवर में सब लोग उपहास की दृष्टि से उनका मुख देखने लगे और राजकन्या भी जब नारद के सामने आयी तो वह भी हँस पड़ी। वस्तुतः वह राज्यकन्या कोई नहीं

स्वयं लक्ष्मी ही थीं। उसने वहाँ उपस्थित विष्णु के गले में जयमाला डाल दी। निराश नारद ने जब दर्पण में अपना मुख देखा तो वे अत्यन्त कुपित हो उठे। उन्होंने विष्णु को पत्नी-वियोग

का शाप दिया और कि बन्दर ही उनके संकट में सहायक होंगे, यह शाप भगवान विष्णु को रामावतार में भोगना पड़ा।

रामकथा के ये ऋषि नारद कौन थे और ऋषि के रूप में वेद, पुराणों में इनकी क्या भूमिका रही है, इस पर संक्षेप में प्रकाश डालने का नातिदीर्घ प्रयास इस आलेख में किया जा रहा है।

नारद एक वैदिक मन्त्र-द्रष्टा एवं यज्ञवेत्ता थे (अथर्ववेद ५.१९.९; १२.८.१६; २४; ४१)। भागवत पुराण (१.३.८) और मत्स्यपुराण (३.६.

८) के अनुसार ये ब्रह्माजी के मानसपुत्र एवं श्री विष्णु के तीसरे अवतार थे। भागवत पुराण (3. 12.18) में कहा गया है कि ये ब्रह्मा की जंघा से उत्पन्न हुए थे। यह भी कहा जाता है कि ये मन्वन्तर के सप्तर्षियों में एक थे। ये त्रिकालदर्शी तथा वेद-वेदांग में पारंगत थे। इन्हें ऋग्वेद के कुछ सूक्तों का द्रष्टा भी बताया जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में उन्हें बृहस्पति का शिष्य बताया गया है।

यद्यपि उन्होंने सारी विद्याएँ गुरु बृहस्पति से प्राप्त की थी; तथापि 'ब्रह्म-ज्ञान' की प्राप्ति के लिए वे सनत्कुमार के पास गए थे (छान्दोग्योपनिषद् 7.1.1.)। सोमक साहदेव्य नामक शिष्य को इन्होंने ही सोमविद्या सिखायी थी (ऐतरेय ब्राह्मण 7.38) तथा पर्वत नामक अन्य आचार्य के साथ आंबष्य एवं युधांश्रौष्टि राजाओं को 'ऐन्द्रमहाभिषेक' किया था (ऐतरेय ब्राह्मण 8.21)

पद्मिनी मेनन कृत पुराण सन्दर्भ कोश (पृ. 133-134) में देवर्षि नारद को भगवान का मन कहा गया है। वे परम तत्त्वज्ञ, परम प्रेमी भक्त, दिव्य ऋषि और उर्ध्वरेता ब्रह्मचारी हैं। भक्ति के प्रधान आचार्य हैं (प्रह्लाद, ध्रुव, अम्बरीष आदि महान् भक्तों को उन्होंने भक्तिमार्ग में प्रवृत्त किया और श्रीमद्भागवत तथा वाल्मीकि रामायण जैसे दो अनूठे ग्रन्थ भी इन्हीं की कृपा से संसार को प्राप्त हुए। ये पूर्व जन्म में दासी के पुत्र थे। जब वे पाँच वर्ष के थे माँ की अकस्मात् मृत्यु हुई। बचपन से ही माँ के साथ वे मुनियों की सेवा करते थे, इसलिए विरक्ति का अंकुर मन में बोया गया। माँ की मृत्यु के बाद संसार के बन्धनों से मुक्त होकर जंगल में भगवान् के स्वरूप का ध्यान करने लगे। उस जन्म में उनको भगवान् की एक झलक मिली। दूसरे कल्प में ब्रह्मा के मानस पुत्र होकर उनकी जाँघ से जन्मे। अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत को धारण कर वीणा बजाकर भगवान्

के गुणों को गाते रहते और कल्याण करते रहते हैं। वेद और उपनिषदों के मर्मज्ञ देवगणों से पूजित, इतिहास और पुराणों के विशेषज्ञ मेधावी, नीतिज्ञ, त्रिकालदर्शी, सकल शास्त्र निपुण, संगीत विशारद, भगवान् के अत्यन्त प्रिय भक्त हैं। देवता और मनुष्यों के बीच कलह का बीज बोने के कारण उनको कलहप्रिय की उपाधि मिली है। वे ऐसा इसलिए करते थे कि सज्जनों का कल्याण होता था, दुर्जनों का सर्वनाश भी। साथ ही अपने प्रिय भगवान की लीलाओं का आनन्द भी मिलता था।”

“एक कथा के अनुसार पहले वे गन्धर्व थे। उनके सुन्दर रूप के कारण इन्हें हर समय स्त्रियाँ घेरे रहती थीं। इस पर ब्रह्मा के शाप के कारण उनको कश्यप प्रजापति से एक शूद्रा ने जन्म दिया और कश्यप के यहाँ ही उनका लालन पालन हुआ।

नारद को त्रैलोक्य में कहीं भी विचरण करने का वरदान प्राप्त था। इनके द्वारा एक स्थान के समाचार सरलता से दूसरे स्थान पर पहुँच जाते थे। नारद सम्बन्धी अनेक कथाएँ मिलती हैं। संगीत का ज्ञान इन्होंने लक्ष्मी के द्वारा अपमानित किए जाने के बाद किया। एक सरोवर में स्नान करने के कारण उनका स्त्री में रूपान्तर हो गया और दो अवसरों पर उन्हें कृष्ण की और विदर्भ नरेश सुशर्मा की पत्नी बनना पड़ा।” (लीलाधर शर्मा पर्वतीय प्रणीत भारतीय संस्कृति कोश पृ. 486-489)।

नारद, जैसा कहा जा चुका है ब्रह्माजी के मानसपुत्र एवं विष्णु के तीसरे अवतार थे। किन्तु उनके पुनर्जन्म के सम्बन्ध में महाभारत, हरिवंश पुराण, वायुपुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण, विष्णु पुराण, देवी भागवत आदि ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न प्रकार के वर्णन मिलते हैं।

“नारद ने दक्ष के ‘हर्यश्व’ नामक दस हजार पुत्रों को सांख्यज्ञान का उपदेश दिया जिस कारण वे सारे विरक्त होकर घर से निकल गये (महाभारत : आदि पर्व: 90.5.6)। अपने पुत्रों को प्रजोत्पादन से परावृत्त करने के कारण, दक्ष नारद पर अत्यन्त क्रुद्ध हुआ एवं उसने उसे शाप दिया (विष्णु पुराण 1.15)। इस शाप के कारण, नारद ब्रह्मचारी रहकर हमेशा भटकता रहा एवं सारी दुनिया में झगड़े लगाता रहा (भागवत पुराण 6.5.39.38)। दक्ष का शाप से जन्म-जन्मान्तर के लिए मिला था। इस कारण प्रजापति के घर लिये अपने अगले जन्म में भी, दक्ष के शाप की पीड़ा इसे पूर्ववत् ही भुगतनी पड़ी। दक्ष के शाप की यही कहानी, अन्य पुराणों यथा हरिवंश पुराण (1.15), वायुपुराण (66.135.150) ब्रह्माण्ड पुराण (7.1), आदि ग्रन्थों में किञ्चित् परिवर्तन के साथ मिलती है। हाँ, ब्रह्मवैवर्त पुराण में, इनके पुनर्जन्म की कथा कुछ भिन्न ढंग से कही गयी है। ‘दक्ष के शाप के कारण, एक शूद्रा स्त्री को गर्भ से यह पुनः उत्पन्न हुआ। इस नये जन्म में, इसकी माता कलावती नामक शूद्र स्त्री थी। द्रमिल नामक शूद्र की वह पत्नी थी। अपने पति की अनुमति से कलावती ने पुत्र प्राप्ति हेतु, कश्यप प्रजापति का वीर्य-प्राशन किया। बाद में द्रमिल ने देह-त्याग किया, एवं कलावती एक ब्राह्मण के घर एक पुत्र उत्पन्न किया वही नारद है। बाद में इसे कश्यप ऋषि को अर्पण किया गया। कृष्णस्तव के कारण वह शापमुक्त हुआ, एवं ब्रह्मदेव ने इसे सृष्टि उत्पन्न करने की अनुज्ञा भी दी। किन्तु वह आजन्म ब्रह्मचारी ही रहा। महाभारत में, कश्यप एवं मुनि के पुत्र के रूप में नारद ने पुनः जन्म लिया, ऐसा निर्देश प्राप्त है (महाभारत आदि पर्व 58.43)।”

एक वार्ताहर तथा त्रैलोक्य के राजाओं के सलाहकार रूप में नारद का चित्रण महाभारत में हुआ है। “अर्जुन के जन्म के समय नारद उपस्थित था (महाभारत आ० 114.46)। द्रौपदी के स्वयंवर में, अन्य गन्धर्व एवं अप्सराओं के साथ यह गया था। (महाभारत आ० 178.9)। द्रौपदी के निमित्त पाण्डवों का आपस में कोई मतभेद न हो, उस उद्देश्य से नारद इन्द्रप्रस्थ चला आया। पाण्डवों के प्रति सुन्द एवं उपसुन्द की कथा का वर्णन कर, द्रौपदी के विषय में कोई नियम बनाने की प्रेरणा, इसने पाण्डवों को दे दी (महाभारत आश्व० 204)। युधिष्ठिर का इन्द्रप्रस्थ का राजा होने के पश्चात् नारद ने उसे हरिश्चन्द्र की कथा सुनाकर, राजसूय यज्ञ की प्रेरणा दी (महाभारत सं० 11. 70)। राजसूय यज्ञ में अवभृथ स्नान के समय, नारद ने स्वयं युधिष्ठिर का अभिषेक किया (म. स. 48.10)। विदर्भ देश की राजकन्या दमयन्ती के स्वयंवर की वार्ता इन्द्र को नारद ने ही कही थी (महाभारत : व. 51.20-24)। राजा अश्वपति के पास जाकर, सत्यवान् एवं सावित्री के विवाह का प्रस्ताव नारद ने ही प्रस्तुत किया था (महाभारत वनपर्व- 298-11-32)।

प्राचीन राजाओं की अनेक कथाएँ नारद के द्वारा महाभारत में कही गयी हैं। इन कथाओं में सृजन राजा को कहे गये ‘षोडश राजकीय उपाख्यान’ विशेष महत्त्व का माना जाता है (महाभारत द्रोण पर्व 1.8.325-892)। इन कथाओं में आविष्कृत मरुत्त, वादथिन सुहोत्र, पौरव, औशीनर शिबि, दाशरथि राम, ऐक्ष्वाकु भगीरथ, ऐलविल दिलीप, यौवनाश्व मान्धाता, नाहुष ययाति, नाभाग अंबरीष, यादव शशबिन्दु, आमूर्तरयस गय, सांकृति रन्तिदेव, दौष्यन्ति भरत, वैन्य पृथु, जामदग्न्य परशुराम के चरित्र एवं पराक्रम का वर्णन विस्तार से हुआ है। नारद द्वारा कही गयी ये ही कथाएँ युद्ध के बाद

श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर को सुनायी थी। महाभारत युद्ध के रात्रियुद्ध में नारद ने कौरव पाण्डवों की सेनाओं में दीपक का प्रकाश निर्माण किया था (महाभारत द्रोण पर्व- 138)। युद्ध में हुए कौरवों के सम्पूर्ण विनाश की वार्ता श्रीबलराम को नारद ने ही सुनायी थी (महाभारत शल्य० 53.23.31)। अर्जुन एवं अश्वत्थामा के युद्ध में ब्रह्मास्त्र को शान्त करने के लिए नारद ही प्रकट हुए थे (महाभारत : सौ० 14.11-12)। युद्ध के पश्चात् युधिष्ठिर के पास आकर उसका कुशल नारद ने पूछा था (महाभारत शा० 8-12)। युधिष्ठिर के अवशमेष के समय नारद उपस्थित थे (महाभारत आश्व० 90.38)। प्राचीन ऋषियों की तपःसिद्धि का दृष्टान्त देकर, नारद ने धृतराष्ट्र की तपस्या विषयक श्रद्धा को बढ़ाया था (महाभारत आश्व० 26.1)। वन में धृतराष्ट्र, कुन्ती एवं गान्धारी के दावानल से दग्ध होने का समाचार नारद ने युधिष्ठिर को सुनाया था (महाभारत आश्व० 45.9-31)। साम्ब के पेट से मुसल पैदा होने का शाप देने वाले ऋषियों में नारद भी एक थे (महाभारत मौ० 2.4)।

वार्ताहर के अलावे एक तत्त्वज्ञ के रूप में भी नारद सर्वख्यात रहे हैं। तत्त्वज्ञ नारद के दिए उपदेश के अनेक कथा भाग 'महाभारत' में निर्देशित हैं। तीस लाख श्लोकों वाला 'महाभारत' नारद ने देवताओं को सुनाया था (महाभारत आ. परि. 1. 4)। 'पंचरात्र' नामक आत्मतत्त्व का उपदेश नारद ने व्यास को दिया था (महाभारत शां. 326)। इसने सूर्य के 'अष्टोत्तरशत नाम' का उपदेश धौम्य को दिया था (महाभारत वन० 3.17.28)। इसने शुकदेव को वैराग्य ज्ञान आदि विविध विषयों का उपदेश दिया था (महाभारत शां. 316. 318)। मार्कण्डेय को नारद ने धर्मशास्त्र एवं सर्व तत्त्वज्ञान के बारे में जानकारी दी थी (महाभारत

अनु. 54-63)। पूजनीय पुरुषों के लक्षण एवं उनके आदर-सत्कार से होने वाले लाभ का वर्णन इसने श्रीकृष्ण को बताया था (महाभारत अनु. 31.5-25)। श्रीकृष्ण की माता देवकी को, विभिन्न नक्षत्रों में विभिन्न वस्तुओं के दान का महत्त्व नारद ने प्रतिपादित किया था (महा. अनु. 64. 5-35)। श्रेयःप्राप्ति के लिए नारायण की उपासना करने का उपदेश नारद ने पुण्डरीक को दिया था। समुद्र के किनारे ब्रह्म सत्र करने वाले ज्ञानी प्रचेताओं को नारद ने ज्ञानोपदेश दिया था (महाभारत शां. 316-319)। सृष्टि की उत्पत्ति तथा लय के बारे में जानकारी इसी ने देवल को बतायी थी (महाभारत शां. 267)। समंग के साथ उनका ज्ञान विषयक संवाद हुआ था। (म.शां. 275)। पुत्र शोक करने वाले अकम्पन राजा को मृत्यु की कथा बताकर इसने शान्त किया था (म.शां. 248-250)। शास्त्र श्रवण से क्या लाभ होता है, इसकी जानकारी इसने गालब को दी थी।

भागवत आदि ग्रन्थों में तत्त्वज्ञ के रूप में दिये गये नारद के अनेक निर्देश प्राप्त होते हैं। सावर्ण मनु को पंचारात्रागम तन्त्र का उपदेश नारद ने दिया था। इसने व्यास को भागवत ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा दी थी (भागवत 1.5.8)। महाभारत में सुवर्णष्टीविन् की कथा भी आयी है। सृंजय की सेवा से सन्तुष्ट होकर नारद ने उसे वर माँगने के लिए कहा। सृंजय ने सर्वगुण सम्पन्न पुत्र माँगा। नारद के वरानुसार कुछ दिनों के बाद सृंजय को एक पुत्र हुआ। महाभारत द्रोण पर्व के अनुसार, जिसके मूत्रपूरीषादि उत्सृष्ट पदार्थ सुवर्ण के हो, ऐसा पुत्र सृंजय ने नारद से माँगा। नारद के आशीर्वाद से उसे वैसा ही सुवर्णष्टीन नामक पुत्र पैदा हुआ। सुवर्णमय मलमूत्र विसर्जन करने वाले उस बालक को कोई चोर चुरा ले गए तथा उसका उदर उन्होंने विदीर्ण किया। किन्तु इच्छित

सुवर्णप्राप्ति न होने के कारण, क्रोधित होकर वे आपस में ही लड़कर मर गये (महाभारत : द्रोण पर्व- 55)। शान्ति पर्व में यही कथा कुछ अलग ढंग से दी गई है। अपना पुत्र इन्द्र को पराजित करने वालो हो, ऐसी सृजय की इच्छा थी। तुम्हारा पुत्र दीर्घायु नहीं होगा' ऐसा शाप पर्वत ने सृजय को दिया था। फिर सृजय अत्यन्त निराश हो गया। उसका दीन वदन देखकर नारद ने उसे कहा, 'पर्वत के शाप से पुत्र के मृत होते ही मेरा स्मरण करो। मैं तुम्हें उसी रूपगुण का दूसरा पुत्र प्रदान करूँगा' नारद के वर के अनुसार सृजय को एक पुत्र हुआ। उसका नाम सुवर्णष्ठीविन् रख दिया गया। वह अपना पराभव करेगा, ऐसा भय इन्द्र को लगा। इसलिए इन्द्र ने उस पुत्र के पीछे वज्र छोड़ा, जिससे कुछ फायदा नहीं हुआ। बाद में एक दाई के साथ वह पुत्र सरोवर की ओर घूमने गया। उस समय उसे एक शेर ने मार डाला। पुत्र शोक से पागल हुए सृजय ने नारद का स्मरण किया। फिर नारद प्रकट हुए एवं सृजय के शोकहरणार्थ उसे उपदेश दिया। उपदेश करते समय इसने मरुत्त राजाओं का चरित्र कथन करके उसका दुःख कम किया। उसका शोक दूर होने पर नारद ने उसे उसका मृत पुत्र वापस कर दिया (महाभारत-द्रोण पर्व)।''

कृष्ण-कथाओं में भी नारद का उल्लेख कई स्थलों पर मिलता है। एक बार नारद नन्द जी के यहाँ पता करने के लिए गये कि जब श्रीकृष्ण प्रत्यक्ष विष्णु हैं तो उनके साथ लक्ष्मी ने भी अवश्य अवतार लिया होगा। काफी खोज करने के बाद उन्होंने देखा कि भानु नामक गोप की अन्धी, लूली एवं बहरी कन्या के रूप में लक्ष्मी ने नन्द परिवार में जन्म लिया है। पदमपुराण में इस आशय की कथा मिलती है। श्रीमद्भागवत (1.164) के अनुसार कृष्ण जन्म के पहले

वसुदेव के अन्य पुत्रों को भी मारने की प्रेरणा नारद ने ही कंस को दी थी ताकि उसके पाप का घड़ा शीघ्र भर जाय और उसका वध हो। श्रीमद्भागवत (10.58.33.45) में एक कथा है कि नरकासुर के कारागार से मुक्त सोलह हजार स्त्रियों से कृष्ण ने भिन्न-भिन्न मण्डपों में एक ही मुहूर्त में विवाह किया। इस चमत्कार की बात सुनकर नारद को घोर आश्चर्य हुआ और वे कृष्ण के अन्तःपुर में रहस्य की जाँच करने जा पहुँचे। वहाँ नारद ने देखा कि अपनी हर पत्नी के कक्ष में कृष्ण उपस्थित हैं। यह देखकर उन्हें घोर ग्लानि हुई और अन्ततः उन्हें श्रीकृष्ण की शरण में जाना पड़ा।

संगीत-कला के तत्त्वज्ञ के रूप में नारद प्रसिद्ध रहे हैं। वे श्रेष्ठ कोटि के संगीत-कला-तत्त्वज्ञ' एवं 'स्वरज्ञ' थे (महाभारत आदि पर्व 111-40)। इनका 'नारद संहिता' नामक संगीत शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ भी है। नारद ने संगीत कला में प्रवीणता कैसे प्राप्त की, इससे सम्बंधित एक कथा 'अध्यात्म रामायण' (7) में मिलती है। कथा इस प्रकार है:- एक बार लक्ष्मी के यहाँ संगीत का समारोह हुआ। उस समय गायन कला से अनभिज्ञ रहने के कारण नारद को लक्ष्मी ने दासियों के द्वारा बेंत एवं धक्के मरवाकर नारद को सभा स्थान से बाहर करवा दिया और संगीत कला में प्रवीण रहने के कारण तुंबरु का सम्मान किया। इस अपमान से क्षुब्ध होकर नारद ने लक्ष्मी को शाप दिया- 'तुम राक्षस कन्या बनोगी। मटकें में इकट्टा किया गया खून पीकर रहनेवाली स्त्री के उदर से तुम्हारा जन्म होगा और अपनी माता के नीच कृत्य के कारण, तुम्हें घर से निकाल दिया जायेगा।' इसके बाद संगीत सीखने के लिए नारद गन्धर्वों के पास गये। वहाँ वे गान विद्या में प्रवीण हो गये। किन्तु इनका संगीत ज्ञान सैद्धान्तिक ही

रहा। इनके गले से निकलने वाले स्वर अभी तक बेढंगे ही रहे। नारद अपने संगीत-ज्ञान का प्रदर्शन करने तुम्बरु के पास गये। वहाँ सारी रागिनियाँ टूटी-मरोड़ी अवस्था में दिखाई पड़ीं। कारण पूछने पर रागिनियों ने बताया- “तुम्हारे बेढंगे गायन के कारण हमारी यह हालत हुई है। तुबरु का गायन सुनने के बाद हमें पूर्वस्थिति प्राप्त होगी।” रागिनियों के इस विदग्ध वचन को सुनकर नारद लज्जित हो श्वेतद्वीप चले गये और वहाँ उन्होंने विष्णु की आराधना की। उनकी आराधना से प्रसन्न होकर भगवान् विष्णु ने कहा- ‘कृष्ण अवतार में मैं स्वयं तुम्हें गायन सिखाऊँगा।’ कृष्णावतार काल में जाम्बवती, सत्यभामा तथा रुक्मिणी ने तथा बाद में स्वयं श्रीकृष्ण ने उन्हें सिखाकर गायन कला में पारंगत कर दिया।

बाल ब्रह्मचारी के रूप में नारद की प्रसिद्धि रही है। किन्तु पुराणों में ऐसी भी कथा मिलती है कि शिबिराज सृजय की कन्या दमयन्ती से नारद का विवाह हुआ था। ब्रह्मवैवर्त पुराण में विवाह सम्बन्धी कथा इस प्रकार है (ब्रह्मवैवर्त पुराण 4. 130.10-15)। एक बार नारदजी अपने भतीजे पर्वत के साथ घूमते-घामते शैब्य पुत्र सृजय के घर आये एवं वहाँ कुछ समय तक रह गए। सृजय इनके स्वागत में अपनी कन्या दमयन्ती को प्रतिनियुक्त कर दिया। नारद तथा पर्वत में ऐसा करार हुआ था कि इन दोनों के मन में जो भी बात आयेगी उसे एक दूसरे से छिपायेंगे नहीं अर्थात् एक-दूसरे से कह देंगे। कुछ दिन बीतने के बाद नारद दमयन्ती से प्रेम करने लगे किन्तु यह बात उन्होंने पर्वत से छिपा ली। नारद की इस धोखाबाजी से कुपित होकर पर्वत ने उन्हें शाप दे दिया “तेरा मुख वानर के सदृश हो जायेगा एवं दूसरों को तुम साक्षात् मृत्यु के समान दिखाई दोगे।” यह शाप सुनकर नारद ने भी उन्हें प्रतिशाप

दे दिया- तुम्हें स्वर्गप्राप्ति नहीं होगी। इस पर पर्वत दीन होकर नारदजी की शरण में आया और उनसे शाप वापस लेने के लिए प्रार्थना करने लगा। फिर नारद और पर्वत दोनों ने अपने-अपने शाप वापस ले लिए। तत्पश्चात् सृजय की कन्या दमयन्ती के साथ नारद का विवाह हो गया।

पुराणों में नारद-नारदी का वृत्तान्त भी आया है। कई पुराणों में नारद का चित्रण एक धर्मज्ञ देवऋषि की अपेक्षा एक हास्यजनक व्यक्ति के रूप में किया गया प्रतीत होता है। विष्णु की माया के कारण नारद का रूपान्तर कुछ काल के लिए ‘नारदी’ नामक एक स्त्री के रूप में हो गया था। यह कथा विभिन्न पुराणों में अलग-अलग ढंग से दी गई है। नारद पुराण के मत में, वृन्दा के कहने पर नारद ने एक बार सरोवर में डुबकी लगाई। इस सरोवर-स्नान के कारण नारद का रूपान्तर नारदी नामक स्त्री में हो गया। इसी नारदी से कृष्ण का वैवाहिक समागम हो गया। पश्चात् अन्य एक सरोवर में स्नान करने पर इसे पुरुष रूप फिर वापस मिल गया (नारद पुराण 2.89) पद्म पुराण 75)। यही कथा ब्रह्मपुराण में इस प्रकार दी गई है। एक बार श्वेतद्वीप में जाकर नारद ने विष्णु की स्तुति की। उसने प्रसन्न होकर इसे वर माँगने के लिए कहा। फिर उसने कहा भगवान् मुझे अपनी माया दिखाओ।’ इसे गरुड़ पर बिठाकर भगवान् कान्यकुंज देश ले गया तथा एक सरोवर में स्नान करने के लिए कहा (स्नान के लिए सरोवर में डुबकी लगाते ही इसे पता चला कि इसका रूपान्तर काशिराज की कन्या सुशीला नामक स्त्री में हो गया। बाद में सुशीला का रूप धारण किये हुए नारद का विवाह विदर्भ राजा सुशर्मा से हुआ। पश्चात् विदर्भ राजा सुशर्मा और काशिराज का आपस में युद्ध होकर दोनों का

ही नाश हो गया। जनक कुल तथा भृकुल दोनों का ही नाश देखकर दुःखातिशय से उसे चिंता में प्रवेश किया। बात यहाँ तक बढ़ते ही वह पानी के बाहर आया एवं यह सारा कथा भाग उसे सपने जैसा प्रतीत होने लगा। किन्तु उस प्रसंग के फलस्वरूप जलने की निशानी उसकी जाँघ पर रह गई तथा उसके दुःख से लगातार वह तड़पने लगा। सरोवर के किनारे बैठे हुए विष्णु का दर्शन प्राप्त करते ही, इसकी वेदना शान्त हो गई (ब्रह्म पुराण 228)। देवी-भागवत' के अनुसार अपने नारी अवतार में नारद तालजंघ राजा की पत्नी बना था। जिससे इसे बीस पुत्र पैदा हुए थे (देवी-भागवत 6.28.-30)।

रामायण काल में राम का अश्वमेधीय अश्व वीरमणि ने पकड़ लिया। उस समय वहाँ प्रकट होकर नारद ने अश्व की रक्षा करने वाले शत्रुधन को चेतावनी दी एवं सावधानी से युद्ध करने के लिए कहा। 'युद्धभूमि में विजय अत्यन्त प्रयत्न से ही प्राप्त होता है। ऐसा उसके उपदेश का सार था। वाल्मीकि रामायण उत्तर-94 के अनुसार राम की सभा के एक धर्मशास्त्री शूद्र का नाम भी नारद था, जिसने शूद्र होकर भी शंबूक नामक शूद्र का राम से वध करवाया था और की छोटी उम्र में मृत एक ब्राह्मण पुत्र को पुनः जीवित कर दिया था।

नारद को एक धर्मशास्त्रकार के रूप में भी प्रतिष्ठा प्राप्त है। धर्मशास्त्र पर नारद के दो ग्रन्थ 'लघु नारदीय' और 'बृहन्नारदीय' उपलब्ध हैं। याज्ञवल्क्य एवं पराशर ने प्राचीन धर्मशास्त्रकारों में नारद का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु विश्वरूप ने वृद्ध-याज्ञवल्क्य का एक श्लोक (याज्ञवल्क्य स्मृति 1.4-5) का उद्धृत कर नारद को इस धर्मशास्त्रकारों में आद्य धर्मशास्त्रकार मान लिया

है। विश्वरूप ने अन्यत्र भी इसका उल्लेख अनेक बार किया है (याज्ञवल्क्य स्मृति 2.180, 186, 226, 3.2552)। मेधातिथि ने एक गद्य उद्धरण लेकर इसका अनेक बार उल्लेख किया है। 'अग्नि पुराण में नारद स्मृति का काफी भाग आया है। स्मृति-चन्द्रिका, हेमाद्रि, पराशरमाधवीय' आदि ग्रन्थों में नारद के काफी श्लोक लिए गए हैं। भट्टोजिदीक्षित ने 'ज्योतिर्नारद' नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है। रघुनन्दन ने 'बृहन्नारद' का एवं निर्णयसिन्धु, 'संस्कार-कौस्तुभ' आदि ग्रन्थों में 'लघुनारद' का निर्देश किया है।

शिक्षाकार' के रूप में भी नारद-सर्वख्यात रहे हैं। नारद ने सामवेद पर एक शिक्षा की रचना की जो श्लोकबद्ध है और शोभाकर ने जिसपर भाष्य लिखा है। नारद के नाम पर नारद पुराण' एवं वास्तुशास्त्र सम्बन्धी एक अन्य ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

नारद किस प्रदेश का रहने वाला था, यह बताना कठिन है। इसने कार्षापण (सिक्का) का उल्लेख किया है। यह सिक्का पंजाब में प्रचलित था। कुछ लोग कहते हैं कि वह नेपाल का निवासी रहा होगा। 'नारद की शरीर कान्ति श्वेत एवं तेजस्वी थी। वह इन्द्र द्वारा प्रदत्त सफेद, मृदु, एवं धौत वस्तु धारण करता था। कानों में सुवर्णकुण्डल कन्धे पर वीणा एवं सिर पर श्लक्ष्ण शिखा (मृदु चोटी) से वह सदा अलंकृत रहता था।

लीलाधाम, ३/३०७  
न्यू पाटलिपुत्र कॉलोनी,  
पटना-१३





## रामचरितमानस में धर्म की अवधारणा

○ डॉ. हरे कृष्ण तिवारी

‘धर्म’ शब्द संस्कृत ‘धृ’ धातु से बना है जिसका अर्थ है- धारण करना। अर्थात् जो धारण करे वह धर्म है- धारयते इति धर्मः। अपौरुषेय वेद ने ‘धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा’ कहकर धर्म को विश्व की; जगत् की प्रतिष्ठा बताया है। जगत् में ऐसा कोई पदार्थ नहीं, जिसमें धर्म विद्यमान न हो; ऐसा कोई तत्त्व नहीं, जिसमें धर्म की सत्ता न हो। धर्म

बहुत ही व्यापक शब्द है। इसको अनेक तरह से परिभाषित करने का प्रयास किया गया है। जैमिनि ने अनुसार, ‘चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः’ अर्थात् वेद जिसकी घोषणा करे, वह धर्म है। कणाद के अनुसार, जिससे इस लोक में उन्नति और परलोक में कल्याण हो, वह धर्म है ‘यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः।’ (वैशेषिक सूत्र) मनु महाराज धर्म के 10 लक्षण बताते हुए लिखते हैं-

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

अर्थात् धैर्य, क्षमा, मन का निग्रह, चोरी न करना, बाहर भीतर की शुद्धि, इन्द्रियों का संयम,

सात्विक बुद्धि, अध्यात्मविद्या, सत्य, क्रोध न करना- ये धर्म के दस लक्षण हैं। ‘धर्म’ शब्द का अर्थ स्वभाव, सामाजिक नियम, कर्तव्य, सनातन रीति-रिवाज, प्राकृतिक नियम आदि के रूप में लिया जाता है। ‘धर्म’ के बारे में यह भी कहा गया है, ‘अहिंसा

परमो धर्मः’ ‘न हि साम्यात् परो धर्मः’, आचारः प्रथमो धर्मः आदि। किन्तु उपर्युक्त परिभाषाओं में कोई भी ऐसी परिभाषा अपने आप से परिपूर्ण नहीं है। ‘धर्म’ शब्द का

अंग्रेजी में प्रायः ‘रिलिजन’ के रूप में अनुवाद होता रहा है किन्तु यह शब्द ‘धर्म’ का पर्याय कदापि नहीं हो सकता। ‘रिलिजन’ धर्म शब्द का बिल्कुल संकुचित अर्थ है।

हिन्दी के महाकवि तुलसीदास ने भी अपने सुप्रसिद्ध महाकाव्य ‘रामचरितमानस’ में ‘धर्म’ के विविध स्वरूपों की व्याख्या की है। आचार्य शुक्ल ने यह स्वीकार किया है कि धर्म के इतने स्वरूपों की एक साथ योजना तुलसी के मानस में ही सम्भव थी। उन्होंने ‘रामचरितमानस’ में चित्रकूट की सभा को एक आध्यात्मिक घटना कहा है। वे लिखते हैं- “चित्रकूट की उस सभा की कार्यवाही

गोस्वामी तुलसीदास का रामचरितमानस विभिन्न प्रकार के विषयों के विशिष्ट प्रतिपादन के कारण महत्त्वपूर्ण हो गया है। गोस्वामीजी ने रामकथा के प्रतिपादन के व्याज से धर्म के कालसंगत, परम्परासंगत एवं पात्रसंगत स्वरूप का निर्देशन किया है। उन्होंने परम्परा का मकरन्द लेकर मधुप की भाँति मधु प्रस्तुत किया है। धर्म के सम्बन्ध में उनकी अवधारणा का एक चित्र यहाँ प्रस्तुत है।

क्या थी, धर्म के एक-एक अंक की पूर्ण और मनोहर अभिव्यक्ति थी। उस समाज के भीतर नीति, स्नेह, शील, विनय, त्याग आदि के संघर्ष से जो धर्म-ज्योति फूटी उससे आस-पास का सारा प्रदेश जगमगा उठा। धर्म के इतने स्वरूपों की एक साथ योजना, तुलसी के विशाल मानस में ही सम्भव थी।”

(त्रिवेणी, पृ०-71)

तुलसीदास ने धर्म को सत्य, अहिंसा, कर्तव्य, कुशल आचरण, स्वभाव, रीति-निति और सबसे बढ़कर परोपकार के रूप में प्रस्तुत किया है। इन्होंने परोपकार को सबसे बड़ा धर्म बतलाते हुए लिखा- “परहित सरिस धरम नहिं भाई।” (उत्तरकाण्ड 40/1) तुलसी के नायक राम ‘धर्मधुरन्धर’ हैं यानी धर्म को धारण करने वाले हैं। धर्म की रक्षा के लिए ही उनका अवतार हुआ है- ‘धर्म हेतु अवतरेहूँ गोसाईं।’ (किष्किन्धाकाण्ड 8/3) तुलसीदास के अनुसार जब-जब धर्म की हानि होती है, नीच अभिमानी राक्षस बढ़ जाते हैं (और वे ऐसा अन्याय करते हैं, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता) तथा ब्राह्मण, गौ, देवता और पृथ्वी कष्ट पाते हैं तब-तब वे कृपानिधि प्रभु अवतार धारण करते हैं। तुलसीदास के शब्दों में:-

जब जब होहि धरम के हानी ।  
बाढ़हिंसुर अधम अभिमानी ॥  
करहिं अनिति जाइ नहिं ।  
सीदहि विप्र धेनु सुर धरनी ॥  
तब तब प्रभु धरि विवधि सरीरा ।  
हरहि कृपानिधि सज्जन पीरा ॥

(बालकाण्ड, 120 ख, 3-4)

राम दशरथ के आदर्श पुत्र हैं। वे पुत्र के धर्म को अच्छी तरह से जानते हैं। ‘रामचरितमानस’ में राम की माता कौशल्या कहती हैं- ‘पितु आयसु सब धरमक टीका।’ अर्थात् पुत्र के लिए

पिता की आज्ञा का पालन करने से बढ़कर कोई धर्म नहीं है। भरत तो साक्षात् धर्म की प्रतिमूर्ति हैं। राम का कहना है-

जौं न होत जग जनम भरत को ।  
सकल धरम धुर धरिनि धरत को ॥

(अयोध्याकाण्ड, 232/1)

‘रामचरितमानस’ के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति का अपना धर्म होता है। पुत्र के लिए पिता की आज्ञा पालन सबसे बड़ा धर्म है तो पत्नी के लिए तन-मन से पति की सेवा करना और उनकी आज्ञा का पालन करना। ‘रामचरितमानस’ में पार्वती की माता उनसे कहती हैं-

करेहु सदा संकर पद पूजा ।  
नारि धरम पतिदेव न दूजा ॥

(बालकाण्ड, 101/2)

साथ ही साथ उनके लिए सास-ससुर की सेवा करना भी बहुत बड़ा धर्म है। राम सीता से कहते हैं-

एहि ते अधिक धर्म नहिं दूजा ।  
सादर सास-ससुर पद पूजा ॥

(अयोध्याकाण्ड, 60/3)

‘रामचरितमानस’ में तुलसीदास ने एक मित्र के बारे में भी वर्णन किया है। उनका कहना है कि एक सच्चे मित्र का यह धर्म है कि वह अपने मित्र को गलत रास्ते से हटाकर सन्मार्ग पर लाये, उसके अवगुण को छिपाकर गुण को प्रकट करे, मित्र के छोटे दुःख को भी बड़ा समझकर उसे दूर करने का प्रयास करे। तुलसी के शब्दों में:-

कुपथ निवारि सुपंथ चलावा ।  
गुन प्रकटई अवगुनिहि दुरावा ॥  
जें न मित्र दुख होहि दुखारी ।  
तिन्हहिं बिलोकत पातक भारी ॥  
निज सुख गिरि सम रज करि जाना ।  
मित्रक दुख रज मेरु समाना ॥

(किष्किन्धाकाण्ड, 6/1-2)

एक राजा का क्या धर्म है? तुलसीदास ने लिखा है :-

**मुखिया मुख सो चाहिए खान-पान को एक।  
पाले पोसे सकल अंग तुलसी सहित विवेक॥**

(अयोध्याकाण्ड, दो० 315)

अर्थात् जिस प्रकार मुख सभी चीजों को ग्रहण कर विवेकानुसार शरीर के सभी अंगों को उसका रस प्रदान करता है, उसी प्रकार प्रजा को विवेकानुसार सारी प्रजा की देख-भाल करनी चाहिए। 'रामराज्य का वर्णन करते हुए तुलसीदास ने लिख है-

**वरनाश्रम निज निज धरम निरत वेद पथ लोग।  
चलहिं सदा पावहिं सुख नहिं भय सोक न रोग॥**

(उत्तरकाण्ड, दो० 20)

वे आगे लिखते हैं-

**दैहिक दैविक भौतिक तापा ।  
रामराज्य नहिं काहुहि व्यापा ॥  
सब नर करहिं परसपरप्रीति ।  
चलाह स्वधर्म निरत श्रुति रीति ॥**

यहाँ 'निज निज धरम' और 'स्वधर्म' से स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना धर्म होता है। 'निरत श्रुति रीति' और 'निरत वेद पथ' से स्पष्ट है कि तुलसीदास ने वेद प्रतिपादित धर्म को ही रामचरितमानस में स्थापित करने का प्रयास किया है। देवतागण जब कामदेव से शिव की तपस्या को भंग करने के लिए प्रार्थना करते हैं ताकि उन लोगों की पीड़ा का निवारण हो सके, तो कामदेव सहजता से तैयार हो जाते हैं। हालांकि वे जानते हैं कि इस कार्य से मेरा कोई लाभ नहीं होगा, फिर भी देवताओं की भलाई के लिए शिव की तपस्या भंग करने में उनकी मदद करते हैं। क्योंकि श्रुतियों ने उपकार को सबसे बड़ा धर्म माना है-

**श्रुति कह परम धरम उपकार।**

(बालकाण्ड, 83/1)

राम तो स्पष्ट रूप से कहते हैं- हे तात ! दूसरे के उपकार से बढ़कर कोई धर्म नहीं है और दूसरे को पीड़ा पहुँचाने से बढ़कर कोई अधर्म नहीं है। यह पुराणों और वेदों का निर्णय है। तुलसीदास के शब्दों में-

**परहित सरिस धर्म नहिं भाई ।**

**पर पीड़ा सम निहिं अधमाई ॥**

**निर्णय सकल पुरान वेद कर ।**

**कहेऊँ तात जानहिं कोबिद नर ॥**

(उत्तरकाण्ड, 40/1)

तुलसीदास ने सत्य को भी धर्म के रूप में स्वीकार किया है-

**धर्म न दूसरसत्य समाना ।**

**आगम निगम पुरान बखाना ॥**

(अयोध्याकाण्ड, 94/2)

आगम, वेद, पुराण आदि भी यह मानते हैं कि सत्य के समान कोई दूसरा धर्म नहीं है। 'रामचरितमानस' में तुलसीदास ने धर्म को चार पुरुषार्थों में से एक माना है। उन्होंने 'अहिंसा परमो धर्मः' के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए लिखा है:-

**परम धरम श्रुति विदित अहिंसा।**

(उत्तरकाण्ड, दो० 120/11)

'धम्मपद' में तो स्पष्ट कहा है-

**न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीथ कुदाचनं ।**

**अवेरेन च सम्पन्ति एस धम्मो सनन्तनो ॥**

'रामचरितमानस' में तुलसीदास ने राम के मुख से जो 'धर्मरथ' की परिभाषा दिलवाई है, वह अद्वितीय है। रावण से युद्ध करते समय राम विभीषण के सामने 'धर्मरथ' की परिभाषा देते हैं:-

**सौरज धीरज तेहि रथ बाका ।**

**सत्यशील दृढ़ धजा पताका ॥**

**ईश भजनु सारथी सुजाना ।**

विरति चर्म सन्तोषे कृपाना ॥  
दान परसु बुधि सक्ति प्रचण्डा ।  
बल विज्ञान कठिन को दण्डा ॥  
अमल अचल मन त्रोन समाना ।  
सम जम नियम सिलीमुख जाना ॥  
कवच अभेद विप्र गुर पूजा ।  
एहि सम विजय उपाय न दूजा ॥  
सखा, धर्ममय अस रथ जाके ।  
जीत न कहूँ न कतहूँ रिपु ताके ॥

(लंकाकाण्ड, 79/3-6)

अर्थात् शौर्य और धैर्य उस रथ के पहिए हैं। सत्य और शील (सदाचार) उसकी मजबूत ध्वजा और पताका है। बल, विवेक, दम (इन्द्रियों का वश में होना) और परोपकार- ये चार उसके घोड़े हैं, जो क्षमा, दया और समता रूपी डोरी से रथ में जोड़े हुए हैं। ईश्वर का भजन ही उस रथ को चलाने वाला चतुर सारथी है। वैराग्य ढाल है ओर सन्तोष तलवार है। दान फरमा है, बुद्धि प्रचण्ड शक्ति है, श्रेष्ठ विज्ञान कठिन धनुष है, निर्मल और पापरहित अचल मन तरकस के समान है। शम (मन का वश में होना) अहिंसादि यम और शौचादि नियम- ये बहुत से बाण हैं। ब्राह्मण और गुरु का पूजन अभेद्य कवच है। सचमुच, ऐसा 'धर्मरथ' जिसके पास हो उसे कोई नहीं पराजित कर सकता है।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि जब तुलसीदास ने वेद प्रतिपादित धर्म की है प्रतिष्ठा की है तब उनका अपना क्या योगदान है? निसन्देह तुलसीदास ने वेद प्रतिपादित धर्म को ही 'रामचरितमानस' में महत्त्व दिया है, फिर भी 'रामचरितमानस' में उन्होंने जिस धर्म की प्रतिष्ठा की है वह अपने आप में काफी महत्त्वपूर्ण है। वह मानव-धर्म है, वह सनातन धर्म है। आम लोगों के लिए वेदों, उपनिषदों, पुराणों आदि का

अध्ययन करना, उस पर चिन्तन मनन करना और उसे समझना क्या सम्भव है? कदापि नहीं। तुलसीदास ने इसी बात को ध्यान में रखकर 'रामचरितमानस' में धर्म की अवधारणा को प्रस्तुत किया है। वेदों, पुराणों, आगमों, उपनिषदों आदि में धर्म का जो स्वरूप है उसे सरल तरीके से, सारगर्भित रूप से सामान्य लोगों के लिए, सामान्य लोगों की भाषा में उन्होंने प्रस्तुत किया है। धर्म का वह स्वरूप है-

**नानापुराणनिगमागमसम्मतं यत् ।**

ऊपर के उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि तुलसीदास ने पूर्व-परम्परा में प्राप्त धर्म के विभिन्न अर्थों को 'रामचरितमानस' में प्रस्तुत किया है। तुलसीदास ने स्वयं स्वीकार भी किया है कि उन्होंने पुराणों, निगमों, रामायणों तथा अन्य ग्रन्थों का उपयोग किया है-

**नानापुराणनिगमागमसम्मतं यत् ।**

**रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि ॥**

'रामचरितमानस' में धर्म कहीं कर्तव्य के लिए, कहीं स्वभाव के लिए, कहीं गुण के लिए, तो कहीं रीति-रिवाज, नियम, आचार आदि के लिए प्रयुक्त हुआ है। जैसा कि 'महाभारत' में वर्णित है- **धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां**, धर्म के स्वरूप की सही-सही परख करना बड़ा कठिन है। किन्तु जिसे इसकी परख हो जाती है, वह धन्य-धन्य हो जाता है और उसके दोनों लोक सँवर जाते हैं।

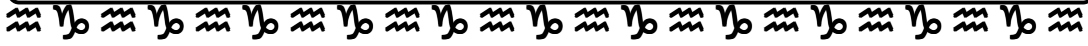
असिस्टेंट प्रोफेसर

हिन्दी विभाग

नव नालन्दा महाविहार

नालन्दा ( बिहार )





## तुलसीदास की गुरु-विषयक अवधारणा

○ डॉ० श्रीकांत सिंह



‘गुरु’ शब्द के कोश-लब्ध अनेक अर्थ हैं। ‘बृहत् हिन्दीकोश’ (पृ. 328) में आचार्य, अध्यापक, शिक्षक, उस्ताद, गम्भीर, महत्, पूज्य पुरुषादि शब्द ‘गुरु’ शब्द के समानार्थी हैं। विभिन्न ग्रन्थों में इन शब्दों के आधार पर ‘गुरु’ नामक व्यक्ति विशेष के चरित्रोद्घाटन एवं महिमा-मण्डन का सराहनीय

प्रयास किया गया है। ‘गुरु-गीता’ (श्लोक सं.- 43) में ‘गुरु’ को ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा परब्रह्म तक कहा गया है। ‘गुरु-गीता’ (श्लोक सं.-

12) में यह भी वर्णित है कि गुरु शिष्य के मोहरूपी अन्धकार को दूर करनेवाले महान् व्यक्ति होते हैं। ‘श्वेताश्वतरोपनिषद्’ (6.23) में गुरु तथा भगवान् के प्रति समान श्रद्धा रखने की बात कही गयी है। साथ ही ‘मुण्डकोपनिषद्’ (1.2. 12) में ज्ञानार्जन हेतु ‘श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ’ गुरु के चुनने एवं उनके निकट जाने का उपदेश दिया गया है। ‘श्रीमद्भागवत’ (11.3.21) में ‘गुरु के लक्षण बताते हुए कहा गया है कि वह शब्द शास्त्र और अनुभव दोनों में पारंगत होता है। अतः उत्तम श्रेय की साधना के लिए जिज्ञासु को

चाहिए कि वह ऐसे गुरु की शरण में जाए जो शब्दब्रह्म में निष्णात, अनुभवी और शान्त हो। ‘पद्म पुराण’ (भूमिखण्ड 85.8) में वर्णित है कि जिस प्रकार सूर्य सम्पूर्ण लोकों को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार गुरु शिष्य के अन्तर्जगत् को प्रकाशपूर्ण बनाता है। शंकराचार्य की प्रश्नोत्तरी

(संख्या- 171) में ‘गुरु कौन है?’ के उत्तर में कहा गया है कि ‘जो केवल हित का उपदेश करने वाला है, वही गुरु है (को वा गुरुयों हि हितोपदेष्टा)।

ध्यातव्य है कि माता-पिता को देवतुल्य मानने के साथ-साथ

‘गुरु’ को भी इसी कोटि में रखा गया है। पुनः मातृ ऋण एवं पितृ ऋण से निर्ऋणता के अतिरिक्त गुरु-ऋण से ऋण मुक्त होने की बात भी कही गयी है। पुराने इतिहास ग्रन्थों में गुरुदक्षिणा तथा गुरु-ऋण को चुकता करने से सम्बन्धित अनेक कथाएँ मिलती हैं। उन ग्रन्थों में गुरुओं की महानता पूर्वाग्रहग्रस्तता तथा शिष्यों की कृतज्ञता-कृतघ्नता का सविस्तर वर्णन है। प्राचीन शिक्षा की गुरुकुल प्रणाली के सन्दर्भ में ‘गुरु’ के उदात्त चरित्र के सम्यक् दर्शन किए जा सकते हैं। ‘गुरु’ की ऐसी ही गुरुता और महत्ता ने नाभादास

भारतीय संस्कार में प्राचीन काल से ही गुरु की गरिमा अपरम्पार रही है। कभी उन्हें बृहस्पति कहा गया है तो कभी ब्रह्मा, विष्णु एवं परब्रह्म। गुरु ज्ञान रूपी अंजनशलाका से अज्ञानता के अन्धकार को दूर करनेवाले हैं। प्रायशः सभी महान् कवियों एवं शास्त्रकारों ने गुरु की वंदना कर उनकी गरिमा के सामने अपना शिर झुकाया है। गोस्वामी तुलसीदास द्वारा गायी गयी गुरु-गरिमा को यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

को 'भक्तमाल' में यह कहने को विवश कर दिया- 'भक्ति भक्त भगवन्त गुरु चतुर नाम बपु एक।' कबीर भी कायल हैं 'गुरु' के गुण और उसकी उदारता को देखकर तभी तो कबीर की अवधारणा में भी गुरु गोविन्द सदृश ही हैं। कुछ बढ़कर और महत्तर ही।

अस्तु, कबीर ने कहा

**गुरु गोबिन्द दोऊ खड़े काके लागूँ पाय ।  
बलिहारी गुरु आपने जिन गोबिन्द दियो बताय ॥**

गोविन्द के गौरव और भगवान् की भगवत्ता का ज्ञान गुरु ने ही कराया है। अतः कबीर की ओर से पहला प्रणाम गुरु को। प्रायः अनेक महान् व्यक्तियों के ख्यातिलब्ध जीवन के मूल में गुरु-प्रणेता ही नियामिका रही है। गुरु शिष्य के व्यक्तित्व को गढ़ने के लिए कभी कुंभकार की भूमिका में होता है तो कभी रजक की। 'गुरु कुम्हार सिष कुम्भ है....' तथा 'गुरु धोबी सिष कापड़ा ....' साखियों के माध्यम से कबीरदास ने कुछ ऐसी ही सच्चाइयों को उजागर किया है।

....'तुलसीदास की गुरु विषयक अवधारणा' के उद्घाटन के पूर्व उपर्युक्त विवेचन अत्यावश्यक था, क्योंकि उपरि विवेचन के आलोक में प्रस्तुत विषय को समझने में सहजता होगी। 'नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि.....' को अधिगत करने वाले तुलसीदास के मानस मन्दिर में अधिष्ठित 'गुरु' के विषय में उनकी बृहत्तर अवधारणा है। और भला क्यों न हो? माता-पिता द्वारा से वंचित, समाज द्वारा तिरस्कृत और दुर्भाग्य के दावानल में जलते हुए तुलसीदास का उद्धार गुरु की अहैतु की कृपावृष्टि ही करती है। तुलसीदास की दृष्टि में गुरु साक्षात् शंकर स्वरूप हैं। अनाथों के नाथ-भोलानाथ सदृश! उस आशुतोष-अवढरदानी

के समान जिसके आश्रय में जाते ही वक्र चन्द्रमा भी वन्द्य हो जाता है। तुलसीदास का टेढ़ा भाग्य तभी ऋजुता को प्राप्त करता है जब आकाशधर्मा गुरु का आश्रय और स्नेह उन्हें प्राप्त होता है। अन्धकार में भटक रहे तुलसीदास को तभी त्राण मिलता है, जब उन्हें शंकर सदृश गुरु की प्राप्ति होती है। तुलसीदास की दृष्टि में गुरु वही हो सकता है, जिसने 'शिव-चरित' को अपने में समाहित कर लिया हो। अनेक स्थलों पर तुलसीदास महेश और भवानी को माता-पिता और गुरु रूप में स्मरण करते हैं। वे जन्म देनेवाले अपने माँ-बाप को खारिज कर देते हैं। वैसे माँ-बाप उन्हें स्वीकार्य नहीं हैं, जो बालक के जन्म लेने पर 'परितृप्त' होने के बजाय 'परितप्त' हो जाएँ और सद्योजातक को घर से निकाल दें :-

**जायो कुल मंगन बधावनो बजायो, सुनि  
भयो परितापु पापु जननी-जनक को ।**  
(कविता.उ.कां. 73)

अस्तु, तुलसीदास के सर्वस्व तो शिव ही हैं जिन्होंने दुर्भाग्य की दरिया में डूबते उनको बचाया। यह अकारण नहीं है कि तुलसीदास माता-पिता और गुरु में महेश-भवानी को याद करते हैं :

**गुरु पितु मातु महेश भवानी**  
(मा. 1.15.3)

**मेरे माय बाप गुरु संकर भवानिए**  
(कवितावली, उ.को. 168)

**वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम् ।  
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते॥**  
(मा. मंगलाचरण श्लोक सं. 3)

'रामचरितमानस' के 'गुरु-वन्दना प्रकरण' में तुलसीदास ने 'गुरु' को मनुष्य रूप में ईश्वर तथा कृपा का समुद्र कहा है। 'गुरु' के वचन सूर्य

किरणों के समूह सदृश हैं, जिससे शिष्य के महामोह रूपी अन्धकार का नाश होता है। बिना गुरु-कृपा के शिष्य सांसारिक दुःखों से मुक्त नहीं हो पाता है, जिसे दिव्य दृष्टि नहीं मिल पाती है, उसको समदृष्टि भी प्राप्त नहीं हो पाती है। अर्थात् तुलसीदास की दृष्टि में सम्पूर्ण मानव बनने के लिए गुरु-कृपा अत्यावश्यक है। रामकथा के विषय में तुलसीदास को जो कुछ जानकारी अथवा ज्ञान प्राप्त हुआ है सब गुरु-कृपा की बदौलत ही। 'बिन गुरु होइ की ग्यान...' कहने वाले तुलसीदास अपने मानस-गुरु शंकर, रामकथा के वक्ता याज्ञवल्क्य और काकभुशुण्डि आदि के प्रति कृतज्ञ हो आदर व्यक्त करते हैं। निज गुरु बाबा नरहरि के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए, अपनी बालपना-नासमझी-अल्पज्ञता का उद्घाटन करते हुए कहते हैं :-

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सुकरखेत।  
समुझि नहिं तसि बालपन तब अति रहेऊँ अचेत॥

(मा. 1.30 क)

तदपि कही गुरु बारहिं बारा ।

समुझि परी कछु मति अनुसार ।।

(मा. 1.31.1)

तुलसीदास को जो समझदारी प्राप्त हुई है, जीवन की दैनन्दिन चिन्ताओं से मुक्ति मिली है तथा उनका मन रामकथा के चिन्तन-मनन-श्रवण-कथनादि में प्रवृत्त हुआ है- सब गुरु के साहचर्य, स्नेह और उद्बोधन के फलस्वरूप ही। ब्रह्म द्वारा लिखा उनका 'कुभाग' (कवितावली, उ०.कां. 57) गुरु-कृपा के कारण ही 'सुभाग' में परिवर्तित हो जाता है। कदाचित् इसीलिए तुलसीदास की दृष्टि में विधाता से भी बढ़कर प्रभावकारी हैं गुरु!

राखइ गुरु जौं कोप बिधाता ।  
गुरु बिरोध नहिं कोउ जग त्राता ॥

(मा. 1.166.1)

गुरु के बिना कोई भवसागर नहीं पार कर सकता है, चाहे वह ब्रह्मा और शंकर के समान ही क्यों न हो?

गुरु बिनु भवनिधि तरहि न कोई ।  
जौं बिरंचि संकर संम होई ॥

(मा. 7.93.5)

स्वयं राम ने अपने गुरु की कृपा से ही रण में राक्षसों का वध किया है। यह बात 'रामचरितमानस' के राम ने अपने समस्त सखाओं के सामने स्वयं स्वीकार किया है :

गुरु वसिष्ठ कुल पूज्य हमारे ।  
इन्ह की कृपाँ दनुज रन मारे ॥

(मा. 7.8.6)

'रामचरितमानस' के उत्तरकाण्ड के काकभुशुण्डि-गरुड़ प्रसंग में एक अभिमानी शिष्य द्वारा गुरु की अवज्ञा, उस शिष्य को शंकर द्वारा प्रदत्त भीषण शाप, और फिर गुरु द्वारा शिष्य के शापानुग्रह के लिए शंकर की प्रार्थना का सविस्तर वर्णन है। इस प्रकरण में तुलसीदास ने गुरु के सम्यक् चित्त, उदारता एवं महानता का वर्णन बखूबी किया है। उनके अनुसार जो मूर्ख गुरु से ईर्ष्या करते हैं, वे करोड़ों युगों तक रौरव नरक में पड़े रहते हैं। जन्म-जन्मान्तरों तक दुःख पाते हैं:

जे सठ गुरु सन इरिषा करहीं ।  
रौरव नरक कोटि जुग परहीं ॥  
त्रिजय जोनि पुनि धरहिं सरीरा ।  
अयुत जन्म भरि पावहिं पीरा ॥

(मा. 7.107.5-6)

तुलसीदास के अनुसार गुरु की निन्दा करनेवाला मनुष्य अगले जन्म में मेढक होता है

और वह हजार जन्मों तक उसी मेढक का शरीर पाते रहता है:-

हर गुरु निंदक दादुर होई ।

जन्म सहस्र पाव तन सोई ॥

(मा. 7.121.23)

ऊपर के वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि तुलसीदास की दृष्टि में गुरु का स्थान अत्यन्त गौरवपूर्ण एवं गरिमायुक्त है। लेकिन तभी तक, जब गुरु अपनी उपर्युक्त मर्यादा के मानदण्ड पर खरा उतरते हैं। 'गुरु' शब्द की गम्भीरता और महानता को सार्थक करते हैं। अन्यथा, उच्चासन और मर्यादा से क्रमशः च्युत एवं स्वलित होते ही गुरु तुलसीदास की दृष्टि में नरक के अधिकारी हो जाते हैं:-

गुरु शिष बधिर अंध का लेखा ।

एक न सुनइ एक नहिं देखा ॥

हरइ सिष्य धन सोक न हरई ।

सो गुरु घोर नरक महुँ परई ॥

(मा. 7.99.6-7)

स्पष्टतः तुलसीदास ने इस प्रसंग में गुरु की 'उस्तादी' का वर्णन किया है। ध्यातव्य है कि गुरु का एक समानार्थी शब्द 'उस्ताद' है। उस्ताद का अर्थ चालक और धूर्त भी होता है। अगर गुरु अपने शास्त्रपना को चरितार्थ करने में लग जाएँ, शिष्यों के मोहान्धकार, समस्या, प्रश्नादि को दूर करने के बजाय येन-केन-प्रकारेण धन-संग्रह को तब तुलसीदास की दृष्टि में वे 'नररूप हरि' नहीं बल्कि 'नरक महुँ परि' हैं। तब तुलसीदास की दृष्टि में वे महान्, देवतुल्य और आदरणीय नहीं, प्रत्युत सर्वथा त्याग देने के योग्य हैं। तुलसीदास की दृष्टि में ऐसे गुरु कदापि स्वीकार्य एवं वन्द्य नहीं हैं जो सदैव स्वार्थ के संकुचित घरे में कैद रहते हैं और निरन्तर कपटाचरण में लगे रहते हैं। जो प्रकाश बाँटने के बजाय अन्धकार के उत्सव

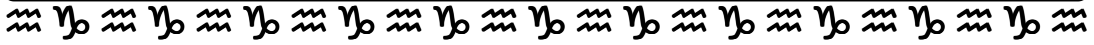
का आयोजन करना ही अपना गुरु-धर्म मानते हैं। जो अब्बल दर्जे के अनुदार और अपने राग-द्वेष से हमेशा पीड़ित रहते हैं।

तुलसीदास की अवधारणा में गुरु को शंकर-सदृश होना चाहिए। उसका महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि शंकर समता के देवता हैं। कल्याण के प्रतिरूप हैं। संकटों को शमित करनेवाले और कष्टों को हरण करनेवाले हैं। भक्तों पर शीघ्र ही प्रसन्न हो जानेवाले हैं। अपनी हानि सहकर भी दूसरों की भलाई करनेवाले हैं। शंकर के इस उदात्त और महत् चरित्र को जो अपने में उतार सकता है, तुलसीदास की दृष्टि में वही गुरु बनने का अधिकारी है। 'गुरु को शंकर के समान होना चाहिए'- तुलसीदास का ऐसा विचार एक तरह से गुरु के लिए निकष के समान है। जो इस कसौटी पर खरा उतर जाए तुलसीदास की दृष्टि में वही गुरु है, स्वीकार्य है, वन्द्य है। जो नकली साबित हो जाए वह गुरु नहीं है, निन्द्य है, तत्काल त्याग देने के योग्य है। कुछ-कुछ अलौकिक एवं मिथकीय- सा लगने वाला तुलसीदास का गुरु विषयक उपर्युक्त वर्णन इस भाव-भूमि पर आकर नितान्त लौकिक और यथार्थ साबित हो जाता है तथा आज के समकालीन यथार्थ से जुड़ जाता है। यह वर्णन अपने कर्तव्य से च्युत हुए और हो रहे गुरुओं को उनकी कितनी ऊँचाई है, उनकी कितनी महत्ता है, उनका कैसा स्वर्णिम अतीत है- यह जानकारी दे रहा है तो दूसरी तरफ उनकी साम्प्रतिक अवस्थिति का भी कच्चा-चिट्ठा खोल रहा है। तुलसीदास की गुरु-विषयक इस अवधारणा के आलोक में आज के शिक्षक अपने को वर्गीकृत कर सकते हैं कि वे गुरु हैं, गुरुघण्टाल हैं या कि उस्ताद हैं ?

प्राध्यापक, स्नातकोत्तर हिन्दी-विभाग  
कॉलेज ऑफ कॉमर्स, पटना-२०







## तुलसीदास की रचनाओं में भाषिक समन्वय

○ आचार्य चन्द्र किशोर पाराशर

गोस्वामी तुलसीदासजी की रचनाओं में काव्य-कला का एक अनुपम स्वरूप देखने को मिलता है। इसी प्रकार गोस्वामीजी की रचनाओं में भाषा प्रयोग भी अत्यन्त विलक्षण ढंग से हुआ है। तुलसी में भावानुकूल शब्द प्रयोग करने की जो विशिष्ट-प्रतिभा है वह अन्य कवियों में विरले ही देखने को मिलता है। मर्यादा रूप शब्दावली की योजना, दार्शनिक भावों की अभिव्यक्ति हेतु प्रयुक्त शब्द, संवादों के भावों के अनुकूल शब्द प्रयोग, साथ ही विविध भारतीय भाषाओं के साथ-साथ विदेशी भाषाओं के भी उपयुक्त शब्दों का प्रयोग अर्थात् देशग और विदेशग शब्दों का चयन कर उसे मोती की तरह अपनी काव्य-रचना में पिरोने की जो कला तुलसी में है वह अतुलनीय और असाधारण है। इस प्रकार यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि गोस्वामीजी का भाषा-सौष्ठव और शब्दकोष इतना विलक्षण और विशाल है जितना किसी अन्य कवि का न होगा। इस कथन की पुष्टि हेतु यहाँ तुलसी की रचनाओं में विभिन्न भाषाओं के शब्दों के प्रयोग का एक समीक्षात्मक अवलोकन प्रस्तुत है।

गोस्वामी तुलसीदासजी की रचनाओं में काव्य-कला का एक अनुपम स्वरूप देखने को मिलता है। इसी प्रकार गोस्वामीजी की रचनाओं में भाषा प्रयोग भी अत्यन्त विलक्षण ढंग से हुआ है। तुलसी में भावानुकूल शब्द प्रयोग करने की जो विशिष्ट-प्रतिभा है वह अन्य कवियों में विरले ही देखने को मिलता है। मर्यादा रूप शब्दावली की योजना, दार्शनिक भावों की अभिव्यक्ति हेतु प्रयुक्त शब्द, संवादों के भावों के अनुकूल शब्द

देखने को मिलता है। मर्यादा रूप शब्दावली की योजना, दार्शनिक भावों की अभिव्यक्ति हेतु प्रयुक्त शब्द, संवादों के भावों के अनुकूल शब्द

प्रयोग, साथ ही विविध भारतीय भाषाओं के साथ-साथ विदेशी भाषाओं के भी उपयुक्त शब्दों का प्रयोग अर्थात् देशग और विदेशग शब्दों का चयन कर उसे मोती की तरह अपनी काव्य-रचना में पिरोने की जो कला तुलसी में है वह अतुलनीय और असाधारण है। इस प्रकार यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि गोस्वामीजी का भाषा-सौष्ठव और शब्दकोष इतना विलक्षण और विशाल है जितना किसी अन्य कवि का न होगा। इस कथन की पुष्टि हेतु यहाँ तुलसी की रचनाओं में विभिन्न भाषाओं के शब्दों के प्रयोग का एक समीक्षात्मक अवलोकन प्रस्तुत है।

गोस्वामी तुलसीदास ने संस्कृत भाषा के ग्रन्थों का गहन अध्ययन कर जनभाषा के माध्यम से उसे जन जन तक प्रचारित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। इस दृष्टि से उत्तर भारतीय आधुनिक आर्यभाषाएँ उनका ऋणी है। हलाँकि रामचरितमानस में अवधी और विनयपत्रिका में मूलतः ब्रजभाषा का प्रयोग किया गया है; किन्तु उन्होंने अपने समय में प्रचलित अनेक भाषाओं की शब्दावली स्वीकार कर भाषात्मक समन्वय का एक उदाहरण भी प्रस्तुत किया है।

अवधी भाषा के प्रयोग का प्रयोजन

गोस्वामी तुलसीदास विरचित महाकाव्य 'श्रीरामचरितमानस' की भाषा मुख्यतः अवधी है। तुलसीदासजी ने अवधी को ही मानस की रचना के प्रयोजन के लिए क्यों चुना; यह विचारणीय है।

तुलसी के काव्य का अध्ययन करने पर यह सुनिश्चित किया जा सकता है कि उनका अवधी और ब्रजभाषा दोनों पर ही समान अधिकार है। हालाँकि मध्यकालीन सूरदास, मीराबाई, आदि ने ब्रजभाषा को

ही अपनी रचना के लिए चुना। स्वयं तुलसीदासजी ने भी अपनी लोकप्रिय कृति कवितावली, गीतावली और विनय पत्रिका का अधिकांश अंश ब्रजभाषा में ही रचा है। इस प्रकार ब्रजभाषा को उस युग की प्रचलित भाषा होने के उपरान्त भी गोस्वामीजी द्वारा अवधी को ही अपने महाकाव्य 'मानस' की रचना की भाषा के लिए चुनने के दो मुख्य कारण जान पड़ते हैं। एक तो यह कि स्वयं तुलसीदासजी की मातृभाषा अवधी थी और दूसरा यह कि अवधी उस प्रान्त की भाषा थी, जहाँ आराध्य देव मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम अवतरित हुए थे। अवधी को 'मानस' की रचना की भाषा

के रूप में प्रयोग के निर्णय का एक और औचित्य यह भी हो सकता है कि 'श्रीरामचरितमानस' की रचना के पूर्व अनेक प्रबन्धकाव्यों की रचना अवधी में हो चुकी थी; जबकि उसी काल के रचनाकारों द्वारा ब्रजभाषा में प्रबन्ध काव्य लिखने का प्रयत्न असफल होता रहा था।

### अरबी-फारसी के शब्द

हिन्दू संस्कृति के प्रबल समर्थक तथा परोक्ष रूप से हिन्दू नवजागरण के समर्थक व धार्मिक कवि होने के उपरान्त भी तुलसीदासजी ने अपनी रचनाओं में तत्कालीन राजसत्ता की मुख्य भाषा अरबी और फारसी के शब्दों का बहुतायत से प्रयोग किया है। शायद इसका प्रमुख कारण यह था कि चूँकि पश्चिमी प्रान्त के निवासी थे और वहाँ मुसलमानों की संख्या अधिक थी, जिसके द्वारा उर्दू के साथ-साथ अरबी-फारसी का प्रयोग भी बहुतायत से होता था। निश्चित रूप से मुसलमान शासक और मुस्लिम आवागम के बोल-चाल की भाषा का प्रभाव आम हिन्दुओं के बोली पर भी गहराई से पड़ा होगा। यहाँ यह भी विचारणीय है कि मुसलमान; जिन्हें उन दिनों आम-बोल चाल की भाषा में 'मलेच्छ' कह कर पुकारा जाता था; उनके द्वारा प्रयुक्त अरबी-फारसी शब्दकोष से खोज कर निश्चितरूपेण नहीं किये होंगे। क्योंकि तुलसी न तो मुगलो के हिमायती थे और न ही उनकी भाषा से उनका कोई विशेष प्रेम था। अतः यह सत्य है कि देश का शासन-तन्त्र मुगलो के हाथ में होने के कारण उनकी भाषा अर्थात् अरबी और फारसी लोकप्रिय न होती हुई भी राजभाषा बना दी गई थी और सरकारी काम-काज में उसका प्रयोग होने के कारण उसके कुछ शब्द आम जनों द्वारा भी प्रयुक्त होने लगा था। इन विदेशज शब्दों का प्रयोग अवधी सहित अन्य भारतीय भाषाओं में होने के कारण ही गोस्वामीजी श्रीरामचरितमानस, कवितावली, गीतावली तथा विनयपत्रिका सहित अन्यत्र भी किया है।

यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जिन विद्वानों का यह मत होगा कि तुलसीदासजी भाषा-प्रेम के कारण अरबी-फारसी शब्दों का बहुतायत से प्रयोग अपनी रचनाओं में करते थे, उन विद्वानों को स्मरण होना चाहिए कि मुगल बादशाह अकबर ने नवरत्नों की श्रेणी में साहित्य-रत्न के रूप में अपने दरबार में शामिल होने का निमन्त्रण गोस्वामीजी के पास ससम्मान अपने दूत के माध्यम से भेजा था, जिसे रामभक्त तुलसीदास ने तुकरा दिया था। एकमात्र यही उदाहरण इस बात का प्रचुर प्रमाण प्रस्तुत कर देता है कि तुलसीदासजी को रामभक्ति की शक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी की भक्ति ओर शक्ति स्वीकार नहीं था और विदेशी शक्ति तथा भाषा से तो निश्चित रूप से उन्हें कोई प्रेमभाव नहीं था। अतः गोस्वामीजी ने अपनी रचनाओं से अरबी तथा फारसी शब्दों का प्रयोग किया है, वह उनका भाषाप्रेम नहीं अपितु परिस्थितिजन्य उपयोगिता मात्र है। क्योंकि एक जनकवि की दृष्टि प्रायः जनता की भाषा के अधिकाधिक निकट पहुँचने की होती है; न की जनता पर अपनी भाषा को अनावश्यक रूप से लादने की। निःसन्देह गोस्वामी तुलसीदासजी न केवल अपने काल के अपितु बाद के कालखण्डों के भी एक कालजयी क्रान्तिकारी जनकवि रहे हैं और उसी दृष्टि से उन्होंने मलेच्छों की भाषा का प्रयोग अपने ग्रन्थों में अबाध रूप से करते हुए एक युगान्तरकारी जनप्रिय महाकवि होने का प्रमाण प्रस्तुत किया है।

गोस्वामी तुलसीदासजी द्वारा रचित विभिन्न ग्रन्थों में अरबी और फारसी के शब्दों के प्रयोग के कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं। सर्वप्रथम तुलसी के महाकाव्य 'श्रीरामचरितमानस' के कुछ उदाहरण उद्धृत हैं। तुलसीदासजी के रामायण में 'गनी गरीब ग्राम नर नाहर' लिखा है; जिसमें 'गनी गरीब' शब्द फारसी के हैं। इसी प्रकार मानस में एक स्थान पर जनकवि ने लिखा है 'गई बहोर गरीबनेवाजू सरल सबल साहिब रघुराज'। इस पंक्ति में भी 'गरीबनेवाजू' शब्द फारसी का है।

इसी महाकाव्य में अन्यत्र तुलसी ने लिखा है—  
‘नाम अनेक गरीबनेवाजे।’ गोस्वामी ने रामायण में अनेक स्थानों पर संस्कृत शब्दों की पंक्ति में फारसी शब्द को बड़ी सुन्दरता से पिरोया है। यथा— ‘त्रातु सदा नो भव खग वाजः’ इस पंक्ति में ‘वाज’ जैसे विदेशी शब्द को केवल मात्रा पूर्ति के हेतु ‘वाजः’ किया गया है न कि अज्ञानतावश।

इसी प्रकार तुलसीदासजी ने अपनी सुप्रसिद्ध कृति ‘कवितावली’ में भी अनेक स्थानों पर अरबी और फारसी शब्दों का प्रयोग किया है; जिसके कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं।

—‘गोरो गरूर गुमान भरो कहौ कौसिक छोटा सो ढोये है का,

राम के विरोध बुरो विधि हरि हर छू को,  
सबको भलो है राजा राम के रहम ही’

—‘नाथ गरीब निवाज है मैं गही गरीबी’

—‘वैरष बाँह बसाइये पै तुलसी-घरू, व्याध अजामिल खेर,

—‘स्वारथ आम परमारथ की कहा जली, पेट की कठिन जग’ जीव को जवारू है’

—‘उधो जू क्यों न कहै कुबरी जी बरी नट नागर हेरि हलाकी’

—करुनाकर की करुना करुन हित नाम सुहेत जो देत दगाई’

—‘टूट्यौ सौ न जरैगौ सरासकर महेश जू को, रावरी पिनाक में सरीकता कहाँ रही’

इन पंक्तियों में स्थूलांकित शब्द विदेशज हैं, जिसका प्रयोग अपनी भाषा में गोस्वामीजी ने व्याकरणिक नियमों के आधार पर इतनी सुक्ष्मता और दक्षता के साथ किया है कि विदेशी शब्द भी देशी संस्कारवाले बन गए हैं। उपर्युक्त उदाहरण में कुछ विदेशी शब्दों का देशी शब्द के रूप में रूपान्तरण। बड़े ही कौशलपूर्वक कलात्मकपूर्ण ढंग से किया है। उदाहरणार्थ; उपर्युक्त पंक्तियों में ‘हलक’ से ‘हलाकी’; ‘दगा’ से ‘दगाई’; ‘सरीक’

से ‘सरीकता’ शब्दों का म्लेच्छ भाषा के शब्दों का ‘कवितावली’ ग्रन्थ में प्रयोग के कुछ और उदाहरण निम्नलिखित हैं—

—‘भाई का न मोह, छोइ सीय की न तुलसी,  
कहै मैं विभीषण की कछु न सबील की’;

—‘आए सुक सारन बोलाए ते कहन लागे, पुलक सरीर सेना करत फहम ही’ ‘जाके रोष दुसह त्रिदोष दाह दूर कीन्हे, पैयत न छत्री खोज खोजत खलक में;

—‘माहिषमती को नाथ साहसी सहसबाहू, समर समर्थ नाथ हेरिए हलक में’

—‘लंक से बंक महा गढ़ दुर्गम ढाहिबे को कहरी है’  
‘तीतर तोम तमीचर सेन समीर को सुनु बेड़ै को बहरी है’

—‘साधु जानै महासाधु, खल महाखल, बानी झूठी साँची कोटि उठत हबुब है।—

इसी प्रकार ‘विनय-पत्रिका में भी गोस्वामी तुलसीदास ने अनेक स्थानों पर अरबी, फारसी व उर्दू का प्रयोग बहुत ही बारीकी से किया है; जिसके कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं—

—‘यदि दरबार में है गरब ते सुख हानि। लाभ जोग छेम की गरीबी मिसकीनता’,

—‘सुर स्वारथी अनीस अलायक, निटुर दया चित नहीं’;

—‘तीतर तोम तमीचर सेन समीर को’ सुनु बडौ बहरी है’;

—‘जस आयस भेषज न कीन्ह तस, दोष कहा दिरमानी’, आदि।

गोस्वामीजी ने अपनी एक अन्य कृति ‘गीतावली’ के भी अनेक पदों में म्लेच्छ भाषा के शब्दों का प्रयोग किया है। यथा—

—‘सान्ति सत्य सुभ रीति गई घटि बढी कुरीति कपट कलई’;

—‘लागति साँग विभीषण ही पर सीपर आपु गये हैं’;

—‘माँगि कै खैवो मसीद को सोइबो, लंबे को एक न देवे को दोऊ’; आदि।

इन तीन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलसीदास ने अपनी प्रसिद्ध रचना ‘गीतावली’ में भी अनेक स्थानों पर अरबी-फारसी के शब्दों

का बहुत ही सूक्ष्मता तथा दक्षता से प्रयोग किया है।

उपर्युक्त उदाहरणों में गोस्वामीजी ने अत्यन्त कलात्मक ढंग से कुछ ऐसे भी शब्दों का प्रयोग किया है, जिनमें इन विदेशी भाषाओं के शब्दों से अपनी भाषा के व्याकरणिक नियमों के आधार पर प्रत्यय और उपसर्ग आदि के सहारे नये शब्दों-रूपों का निर्माण किया है। इस प्रकार तुलसीदासजी ने उन विदेशज शब्दों का देशी संस्कार ही नहीं, वरन् एक प्रकार से देशी रूपान्तर तक कर दिया है। उल्लेखनीय है कि विरल ही कवि ऐसे परिवर्तनों को स्वाभाविक एवं लोकप्रिय बनाने का सामर्थ्य रखते हैं; क्योंकि इस क्रिया में बड़ी सावधानी और कौशल की अपेक्षा होती है।

### भोजपुरी के शब्द

बिहार और उत्तर प्रदेश के बड़े भू-भाग के करोड़ों लोगों की बोली भोजपुरी के शब्दों का प्रयोग भी गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी रचनाओं में अत्यन्त बारीकी से बड़े ही विलक्षण ढंग से किया है। यहाँ यह विचारणीय है कि तुलसी की निकटता भोजपुरी से कभी नहीं रही; फिर उन्होंने इसकी शब्दावली का प्रयोग क्यों और कैसे अपनी रचनाओं में किया। यह गम्भीर विचार एवं शोध का विषय है।

भोजपुरी न तो तुलसीदास की मातृभाषा थी; न सम्पर्क भाषा और न निकटवर्ती भाषा। वस्तुतः गोस्वामीजी अपना गृह त्याग कर जब काशी में रहने लगे तब उनका सम्पर्क भोजपुरी से हुआ। तत्पश्चात् जब वे जनकपुर की यात्रा पर निकले तो रास्ते में उत्तरप्रदेश एवं बिहार के उन क्षेत्रों में विश्राम करते हुए उन्होंने यात्रा की, जहाँ की बोली भोजपुरी थी। इसी क्रम में भोजपुरी शब्दावली से उनका परिचय हुआ, जिसे उन्होंने अपनी रचनाओं में अल्प मात्रा में कलात्मक ढंग से प्रयोग किया। उदाहरणस्वरूप रामचरितमानस की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं, जिनमें तुलसी ने 'कहँवा' तथा 'तहँवा' शब्द का प्रयोग बड़े ही

विलक्षण रूप में किया है- "करि सोई रूप गयउ पुनि तहवाँ। बन असोक सीता रह जहँवा।"

इस प्रकार 'वैराग्य सन्दीपिनी' में तुलसीदास ने 'लोइ' तथा 'होई' शब्द का प्रयोग भी भोजपुरी के प्रभाव के कारण ही किया है-

-तेज होत तन तरनि को अचरन मानत लोई ।

तुलसी जो पानी भजा बहुरि न पावन होई ।

तथा

-तुलसी तेहि समान नहि कोई ।

हम नीके देखा सब लोई ।

तुलसीदास ने अपनी कृति 'विनयपत्रिका' में भी कई स्थानों पर भोजपुरी के शब्दों का प्रयोग किया है। यथा-

-जेहि निसि सकल जीव सूतहि तब, कृपा पात्र जन जागे; मेरी तो थौरी ही है सुधरैगी बिगरियो बलि। रामरावरी सो रही रावरी चाहत'

-'खाटो खरो रावरो' हैं। रावरो सो रावरे सो झूठ क्यों कहौगे खजानौ सब ही के मन की।"

इसी प्रकार भोजपुरी शब्द के छौंक वाली 'कवितावली' की यह पंक्ति भी द्रष्टव्य हैं-

-'रावरे दोष न पायन को पगधूरि को भूरि प्रभाउ महा है।'

इस प्रकार हम पाते हैं कि तुलसीदासजी मध्यमपुरुष वाचक सर्वनाम रूप में 'राउर' 'रावरे' आदि रूपों का व्यवहार कर भोजपुरी शब्दों का प्रयोग अपनी रचना में बड़ी ही सूक्ष्मता तथा कुशलता से किया है।

### ब्रजभाषा की बहुलता

तुलसीदासजी ने अपनी रचनाओं में ब्रजभाषा के शब्दों का भी बखूबी प्रयोग किया है। चूँकि तुलसी ब्रजभाषी क्षेत्र के करीब के रहनेवाले थे, इसलिए इस भाषा पर उनकी पकड़ अपनी मातृभाषा अवधी जैसी ही थी। ब्रजभाषा के शब्दों का अपनी रचनाओं में नैसर्गिक प्रयोग कर गोस्वामीजी ने यह सिद्ध भी कर दिया है।

ब्रजभाषा में को, कों और 'कौ' परसर्गों का व्यवहार होता है, जिसका प्रयोग उन्होंने बहुलता से किया है। यहाँ 'कवितावली' का एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

–“तुलसी से बाम को मोदाहिनी दयानिधान।  
सुनत सिहात सब सिद्ध साधु साध को।”

एक और उदाहरण भी इसी ग्रन्थ से प्रस्तुत है-

–“तुलसी की वाजी राखी राम ही के नाम न,  
तु भेंट पितरन को न मूड़हू में बार है।”

तुलसी ने अपनी तथाकथित कृति ‘श्रीकृष्ण-गीतावली’ में भी ब्रजभाषा के शब्दों का सुन्दर प्रयोग किया है। यथा-

–“सिगरिये हौं ही खैहों बलदाऊ को न दैहों सो  
क्यों भटू तेरौ कहा कहि इत उत जाता।”

ब्रजभाषा के विलक्षण शुद्ध प्रयोग का एक उदाहरण ‘गीतावली’ से प्रस्तुत है-

–धरम धुरीन धीर वीर रघुवीर जू को  
कोटि रज सरिस भरत जू को राज भों ।

इसी प्रकार का एक उदाहरण ‘विनयपत्रिका’ से भी प्रस्तुत है-

–पर उपकार सार श्रुति को जो,  
सो धोखेहु न विचारयो ।

हालाँकि ‘श्रीरामचरितमानस’ जैसे अवधी भाषा के ग्रन्थ में तुलसी ने ब्रजभाषा का प्रयोग नहीं किया है। परन्तु ‘कवितावली’; ‘गीतावली’; ‘विनय-पत्रिका’ और ‘श्रीकृष्ण गीतावली’ में ब्रजभाषा के शब्द प्रयोग का बाहुल्य दृष्टिगोचर होता है। पुरुषवाचक सर्वनामों के सम्बन्ध कारक के अन्तर्गत ब्रजभाषा के मेरो, तेरो, हमारो, तिहारो आदि ओकारान्त शब्दों का प्रयोग भी तुलसीदासजी ने बहुतायत से अपने ग्रन्थों में किया है। यथा, गीतावली की उक्त पंक्ति उसका उदाहरण है-

–पंछी परवस परै पींजरनि लेखो कौन हमारो।

इसी प्रकार के दो उदाहरण ‘विनयपत्रिका’ से उद्धृत हैं-

–तुलसीदास सब भाँति सकल सुख

जौ चाहसि मन मेरो

जो भजु राम काम सब पून

करैं कृपानिधि तेरो।

और

–कृपा डोरि बंसी पद अंकुस

परम प्रेम मृदु चारो

एहि विधि बेधि हरहु मेरो दुख  
कौतुक राम तिहारौ।

संज्ञा और सर्वनाम रूपों की तरह ही ब्रजभाषा के क्रिया रूपों में भी ओकारान्त शब्दों यथा- साँबरो, विसारो, जगायो, भगायो, घरो आदि का प्रयोग भी तुलसीदासजी ने अपने ग्रन्थों में किया है। ऐसा ही एक उदाहरण ‘गीतावली’ से उद्धृत है-

–“जवीन जग जानकी लखन को, मरन महीप सँवारौ।”

इसी प्रकार का एक उदाहरण कवितावली से विशेष रूप से उल्लेखनीय है-

–गौरव जगायो जोग भगति भगायो लोग ।

निगम नियोग ते सो केलि ही धरोसो है ॥

अन्ततः ‘विनयपत्रिका’ का यह उदाहरण द्रष्टव्य है-

–काहे तै हरि मोंहि विसरायौ।

इस प्रकार हम पाते हैं कि ब्रजभाषा की शास्त्रीय तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार की विशेषताओं को स्पष्ट करनेवाले रूपों का प्रयोग गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं में बहुलता से मिलता है।

### बुन्देलखण्डी का प्रयोग

गोस्वामीजी ने ‘श्रीरामचरितमानस’ सहित अपनी अन्य कृतियों में भी बुन्देलखण्डी बोली के शब्दों का प्रयोग बहुतायत से किया है। संज्ञा शब्दों के अन्तर्गत बुन्देली शब्दों का अपनी रचनाओं में तुलसी ने व्यापक रूप में व्यवहार किया है। यथा, रामायण का यह उदाहरण द्रष्टव्य है-

–सुभग सुरभि पय फेन समाना

कोमल कलित सुपेती नाना ॥

इसी प्रकार सर्वनाम शब्दों के अन्तर्गत मध्यम पुरुष वाचक सर्वनाम का आदर सूचक शब्द ‘रउरें’ का प्रयोग ‘रामायण’ की इन पंक्तियों में गोस्वामीजी ने किया है-

–पठयै भरत भूप ननि अउरें ।

राम मातु मत जानव रउरें ॥

इस प्रकार के आदरार्थ एवं सम्बन्ध कारक शब्द का प्रयोग ‘पार्वती मंगल’ के इन पंक्तियों में दृष्टिगोचर होता है-

-जो सोचंहि ससि कलहि सौ सोचहि रौरंहि।

इस प्रकार के अन्य अनेक उदाहरण भी हैं जिसमें तुलसीदासजी ने बुन्देली के शब्दों का प्रयोग बड़े ही कलात्मक रूप में किया है। ज्ञातव्य है कि उत्तरप्रदेश के झाँसी, जलौन, हमीरपुर से लेकर हुसंगाबाद तक के क्षेत्र को बुन्देलखण्ड कहा जाता है तथा यहाँ की लोकभाषा को बुन्देली नाम से पुकारा जाता है। बुन्देली बोलने वालों की संख्या लगभग एक करोड़ होगी।

### राजस्थानी का प्रयोग

राजस्थानी अर्थात् मारवाड़ी बोली के शब्दों का प्रयोग भी तुलसीदासजी मानस' में किया है। राजस्थानी के शब्दों के प्रयोग के कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं- 'सुतावेलि मेली मुनि चरणा।' यहाँ प्रयुक्त 'मेली' का अर्थ 'डाला' है। इसी शब्द के प्रयोग का एक और उदाहरण- 'सिय जयमाला राम उर मेली।' इसी प्रकार 'पूजी' शब्द अर्थात् 'पूरा होना' का प्रयोग द्रष्टव्य है- 'एकहिवार आससव पूंजी।' एक अन्य उदाहरण 'पूरहि' शब्द का प्रस्तुत है, जिसका अर्थ है 'भरना' 'पूरहि नत भरि कुधर विसाला।'

तुलसीदासजी ने राजस्थानी के साधारण शब्द ही नहीं, अपितु मुहावरों का भी कई स्थानों पर अनोखा प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है।

### अहिन्दी भारतीय भाषा के शब्द-प्रयोग

गोस्वामी तुलसीदास ने हिन्दी भाषी क्षेत्र के लोकभाषाओं के शब्दों का प्रयोग अपनी रचनाओं में बहुलता से तो किया ही है। साथ ही उन्होंने अहिन्दी भाषी क्षेत्र के क्षेत्रीय भाषाओं के शब्दों का प्रयोग भी बड़े ही सटीक ढंग से अपनी रचनाओं में किया है। जिसमें बंगाली, गुजराती, मराठी के शब्दों के प्रयोग के कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं।

उत्तर भारत की प्रमुख क्षेत्रीय भाषा बंगला के शब्दों का प्रयोग तुलसीदासजी ने रामायण में अनेक स्थानों पर किया है। यथा-

-लखन कहेउ मुनि सुजस तुम्हारा ।

तुमहि अछत को वरनै पारा ॥

मानस के बालकाण्ड के इस दोहा में 'पारा' शब्द बंगला का है जिसका अर्थ है 'सकता है।'

बंगाली की तरह ही तुलसी ने अनेक स्थानों पर मराठी के शब्दों का भी प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है। इसका कारण यह बताया जाता है कि तुलसी कभी कभी महाराष्ट्र तो नहीं गये; परन्तु काशी में ही वे अनेक मराठी पण्डितों के सम्पर्क में रहे। साथ ही कतिपय मराठी भक्त कवियों की रचनाओं के अध्ययन के परिणामस्वरूप भी मराठी भाषा की शब्दावली से गोस्वामीजी परिचित हुए। यहाँ एक उदाहरण कवितावली से उद्धृत है-

-वीर बड़ो विरुदेत वली

अजहूँ जसु जगत जासु पंवारो ॥

यहाँ 'पंवारो' शब्द का अर्थ लम्बी गाथा से है।

तुलसीदास ने अपनी अनेक रचनाओं में गुजराती के शब्दों का प्रयोग भी बड़ी ही दक्षता और सहजता से किया है। उन्होंने 'कवितावली' में एक स्थान पर गुजराती के 'मूकना' शब्द का प्रयोग किया है। वह पंक्ति इस प्रकार है- 'पालो तेरो टूक को परेहू चूक मूकिये ना।' में 'मूकना' शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ है 'छोड़ना'। इसी प्रकार 'गीतावली' में भी गोस्वामीजी ने 'मौंगी' शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ होता है 'चुप रहना।' यथा- 'सुनिखग कहत अब मौंगी रहु।'

गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं में ऐसे ही अनेक उदाहरण भरे परे हैं, जिसमें उन्होंने अहिन्दी भाषी क्षेत्र की भाषाओं के शब्दों का विलक्षण ढंग से प्रयोग कर भाषाई समन्वय और राष्ट्रीय एकता को प्रोत्साहित किया है तथा अपने बाद के रचनाकारों को यह सन्देश दिया है कि वे भी अपनी कृतियों में अनेक भारतीय भाषाओं के शब्दों का प्रयोग कर राष्ट्रीय एकता को सबल बनायें एवं 'देशज' शब्दों के प्रयोग को प्रोत्साहित

कर हिन्दी को 'देशज बैना' से समृद्ध बनायें। वास्तव में तुलसी ने अपनी रचनाओं में 'देशज' शब्दों का प्रयोग इतनी दक्षता एवं लालित्यपूर्ण ढंग से किया है कि प्रतीत होता है कि वे शब्द अपना स्थान खोज कर स्वयं वहाँ आ बैठे हैं जहाँ उनका उपयुक्त स्थान है।

### संस्कृत का शब्द प्रयोग

सर्वविदित है कि गोस्वामी तुलसीदासजी एक महापण्डित थे और संस्कृत के वे प्रकाण्ड विद्वान् थे। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उन्होंने अपने कृतियों के प्रारम्भ में मंगलाचरण आदि की रचना शुद्ध संस्कृत में ही की है। इतना ही नहीं, उन्होंने अनेक स्थानों पर संस्कृत के दोहों में देशज तथा अवधी के दोहे में तत्सम शब्दों का प्रयोग बड़े ही अनूठे ढंग से किया है। यथा, सर्वप्रथम मानस के उत्तरकाण्ड का उदाहरण प्रस्तुत है, जिसमें उन्होंने हिन्दी के साथ संस्कृत शब्दावली का विलक्षण प्रयोग किया है-

-"उमा रमा ब्रह्मादि बन्दिता। जगदम्बा संततमनिन्दिता।"

इसी प्रकार मानस के अयोध्याकाण्ड में उन्होंने संस्कृत के 'सुखेन' शब्द का प्रयोग इस प्रकार किया है जिसका अर्थ है 'सुख से'- 'जाटु सुखेन' बनहि बलि जाऊँ।'

उपर्युक्त उदाहरणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गोस्वामीजी ने अपनी रचनाओं में 'देशज' तथा 'विदेशज' शब्दों का प्रयोग अत्यन्त ही काव्यशास्त्रीय ढंग से किया है। मुख्यतः अवधी एवं ब्रजभाषा को अपनी काव्य-सृजन की भाषा बनाने के उपरान्त भी महाकवि तुलसीदास ने विविध भाषाओं के शब्दों का समायोजन अपनी रचनाओं में इतनी सहजता और सजीवता के साथ किया है कि उससे सर्ज के प्रवाह में कोई अवरोध प्रकट नहीं होता; अपितु भाषिक संरचना कलात्मक दृष्टि से भी अत्यन्त सुललित, सुमधुर एवं प्रवाहमय एवं हृदयग्राही बना रहता है। सामाजिक वैषम्य एवं भाषायी विलगाव के दौर में तुलसी ने विविध भारतीय भाषाओं के शब्दों का

चयन कर अपनी रचनाओं में उसका समावेश कर भाषायी सम्पत्ति को इतना सबल मूल्यवान् बना दिया है कि वह राष्ट्रीय एकता को भी समृद्ध और सम्पुष्ट करता है। इसी प्रकार अरबी, फारसी आदि के शब्दों का चयन कर उसका अपनी रचनाओं में व्यवस्थित प्रयोग कर तुलसीदासजी ने भाषा के स्तर पर वैश्विक एकता को विलक्षण शक्ति, प्रदान की है तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के भारतीय दर्शन को भाषिक फलक पर भी स्थापित एवं प्रतिष्ठित करने का सफल प्रयास किया है।

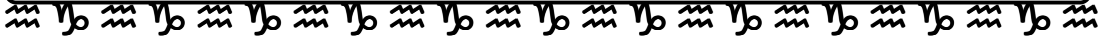
गोस्वामी तुलसीदासजी के कृतियों के अनुशीलन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि महाकवि ने देशज एवं विदेश भाषा को अपनी रचना के प्रवाह में सहज एवं स्वाभाविक ढंग से मिश्रित करने के उद्देश्य से शब्दों के स्वरूप में परिवर्तन कर नये शब्दों का सृजन भी पद-क्रम के अनुसार बहुतायत से किया गया है जिसका प्रयोग अधिक प्रभावोत्पादक है। इस प्रकार शब्दों का रूपान्तरण कर नये शब्दों की रचना से गोस्वामीजी ने हिन्दी का शब्द-भण्डार भी समृद्ध बनाया है और साहित्य जगत् को बहुमूल्य उपहार भी दिया है।

महाकवि गोस्वामी तुलसीदासजी के रचना संसार और उसकी भाषिक संरचना का अनुशील करने के उपरान्त यह निष्कर्ष स्वाभावि रूप से निकलता है कि उनकी रचना बौद्धिक उत्कर्ष सांस्कृतिक संचेतना तथा सामाजिक व राजनीतिक आदर्शों का संवाहक तो है ही, साथ ही उनकी समृद्ध भाषा-सम्पदा उनके रचना-संसार को संजीवनी शक्ति से परिपूर्ण कर राष्ट्रीय एकात्मकता एवं विश्व बन्धुत्व को सबल तथा समृद्ध बनाने वाला भी है।

सेनापति भवन, सिकन्दरपुर,

मुजफ्फरपुर-८४२००१ (बिहार)





## हिन्दी की स्वछन्दप्रियता

○ आचार्य सारंगधर

अधुना हिन्दी के कतिपय तथाकथित विराम के लिए एक खड़ी पाई और पूर्ण विराम

स्वनामधन्य लेखक पूर्णविराम के स्थान पर रोमन के फुलस्टाप का प्रयोग कर रहे हैं और तर्क देते हैं कि हिन्दी ने जब रोमन के सभी विराम-चिह्नों को उदारतापूर्वक

स्वीकार कर ही लिया तब पूर्णविराम में ऐसी क्या विशेषता है कि उसके स्थान पर फुलस्टाप का प्रयोग न किया जाये।

यह कथन सुनने में तो अच्छा लग रहा है, किन्तु तर्क के निकष पर इसकी परख आवश्यक है।

यह सर्वमान्य तथ्य है कि भाषा-प्रयोग में विराम चिह्नों की अनिवार्यता होती है। बोलते या पढ़ते समय कहीं अल्प समय के लिए रुकना पड़ता है तो कहीं पूर्ण समय के लिए; कहीं आश्चर्य किया जाता है तो कहीं प्रश्न का भाव व्यक्त करना पड़ता है। ये सारे कार्य विराम चिह्न किया करते हैं। इनके प्रयोग के बिना लगातार बोलना या पढ़ना पड़ेगा जिससे स्वास्थ्य की हानि तो होगी ही, अर्थबोध भी बाधित होगा।

हिन्दी में खड़ी पाई के रूप में केवल पूर्णविराम का प्रयोग होता था। कविता में अल्प

के लिए दो खड़ी पाई का प्रयोग होने लगा-

बंदऊँ गुरुपद पदुम परागा ।

सुरुचि सुबास सरस अनुरागा ॥

अपनी अन्यान्य आवश्यकताओं की पूर्ति

के लिए हिन्दी ने अँगरेजी के सभी चिह्नों को अपना लिया। फुलस्टाप को नहीं अपनाकर इसने उसके साथ कोई अन्याय नहीं किया और न ही कोई सौतेला व्यवहार। उसके समर्थकों को निम्नलिखित बिन्दुओं पर विचार करना चाहिए:-

‘धर्मायण’ के पाठक आचार्य सारंगधर से पूर्व-परिचित हैं। भाषा विवेचन आपका प्रिय विषय रहा है। आपका भाषा विवेचन भाषाशास्त्रीय उलझन से दूर रहकर सामान्य पाठकों के लिए दिशानिर्देश का कार्य करता है। इस अंक में आपने हिन्दी भाषा में पूर्णविराम की व्यवहार्यता के साथ कतिपय सामान्य विषयों को उठाकर उसकी विवेचना की है।

अपना लिया। फुलस्टाप को नहीं अपनाकर इसने उसके साथ कोई अन्याय नहीं

किया और न ही कोई सौतेला व्यवहार। उसके समर्थकों को निम्नलिखित बिन्दुओं पर विचार करना चाहिए:-

फुलस्टाप बिन्दु के रूप में चिह्नित किया जाता है। ज्यामितीय परिभाषा के अनुसार बिन्दु वह है जिसमें लम्बाई, चौड़ाई और मुटाई न हो। अतएव इस चिह्न को पढ़ने में कठिनता होती है। इसके मिटने की संभावना भी अधिक रहती है। अँगरेजी में इसके मिट जाने पर भी इसकी स्थिति स्पष्ट रहती है क्योंकि अगला वाक्य Capital Letter से प्रारम्भ होता है।

हिन्दी देवनागरी लिपि में लिखी जाती है। इसका वर्ण विन्यास रोमन से भिन्न होता है।



हिन्दी के वाक्य शिरोरेखा के द्वारा लिखे जाते हैं। शिरोरेखा बायीं ओर से दायीं ओर खींची जाती है। वाक्य की समाप्ति पर शिरोरेखा जहाँ समाप्त होती है, वहीं से नीचे खड़ी पाई खींचने से पूर्ण विराम का निर्माण होता है। इसके लिए कोई अभ्यास करना नहीं पड़ता।

पुलस्टाप नीचे के तल में दायीं ओर दिया जाता है। हिन्दी वाक्य में यदि पूर्ण विराम के स्थान पर फुलस्टाप दिया जाये तो कलम को मूल स्थान से हटाकर नीचे ले जाना पड़ेगा। इस कार्य में समय और श्रम दोनों का अपव्यय होगा। हमारे शास्त्रों में समय को अमूल्य कहा गया है। इसके विपरीत रोमन लिखते समय कलम की नोंक की स्थिति सदैव नीचे की ओर रहती है। V और W इन दो वर्णों को छोड़कर प्रायः सभी वर्ण नीचे की ओर समाप्त होते हैं। अर्थात् अँगरेजी वाक्य की समाप्ति जिस बिन्दु पर होती है उससे सटे दायीं ओर फुलस्टाप का स्थान होता है। यहाँ फुलस्टाप देने में समय और श्रम दोनों की बचत होती है। अँगरेजी वाक्य में यदि कोई पूर्ण विराम देना चाहे तो उसे पहले हाथ को ऊपर ले जाना होगा तत्पश्चात् वहाँ से खड़ी पाई खींचनी होगी जो अवैज्ञानिक है। तात्पर्य यह कि अँगरेजी के लिए फुलस्टाप की वैज्ञानिकता सिद्ध है जबकि हिन्दी के लिए खड़ी पाई की।

अपनी वस्तु से प्रेम करने से राष्ट्र सम्मान और स्वालम्बन की भावना बढ़ती है, विकसित होती है। पूर्ण विराम का चिह्न हिन्दी को संस्कृत की विरासत में प्राप्त हुआ है और हिन्दी के अनुकूल है। अतः 'हिन्दी के सभी विराम चिह्न अँगरेजी ले लिये गये हैं। तो फुलस्टाप भी ले लिया जाये', यह विचार अनुचित है।

अँगरेजी में अन्यपुरुष एकवचन के लिए He, She और It तीन सर्वनाम हैं। ये क्रमशः

पुंल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग के लिए प्रयुक्त होते हैं। हिन्दी में यहाँ केवल एक ही सर्वनाम है- वह। यथा- वह पढ़ता है, वह पढ़ती है, वह आम है।

अँगरेजी में विशेषण की तीन अवस्थाएँ होती हैं। Positive से Comparative एवं superlative बनाने के लिए er-est (Late-Later-Latest) लगाया जाता है अथवा शब्द के पूर्व more-most (more beautiful, most beautiful) लगाया जाता है। कुछ शब्दों में अनियमित परिवर्तन होते हैं, जैसे good-better-best हिन्दी में केवल 'से' और 'सबसे' जोड़ देने से उत्तरावस्था और उत्तमावस्था को बोध होता है। अँगरेजी के Ram is better than Shyam और Ram is the best of all के बदले हिन्दी में 'राम श्याम से अच्छा है' और 'राम सबसे अच्छा है' का प्रयोग ही सुकर है।

अँगरेजी की क्रियाएँ लिंग से प्रभावित नहीं होती Ram reads, Seeta read। हिन्दी क्रियाएँ लिंग से प्रभावित होती हैं, राम पढ़ता है, सीता पढ़ती है।

अँगरेजी में चार Gender हैं। हिन्दी में मात्र पुल्लिंग और स्त्रीलिंग में ही उक्त चारों भेद समाहित हैं।

हिन्दी में अँगरेजी की भाँति वचन तो दो ही हैं; किन्तु उनमें प्रयोग भेद है। अँगरेजी में बहुवचनान्त रूप प्रदर्शित करने के लिए बहुवचनान्त प्रयोग अनिवार्य है; किन्तु हिन्दी में आवश्यक भी नहीं। यथा- I wrote two letters शुद्ध है। यहाँ Letters का Letter नहीं होगा। किन्तु इसका हिन्दी अनुवाद 'मैंने दो पत्र लिखे' होगा। यहाँ पत्र का 'पत्रों' नहीं हो सकता।

अँगरेजी में दो Voice हैं- Active और Passive। हिन्दी में तीन हैं' कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य।

अँगरेजी में Narration की बड़ी प्रतिष्ठा है। इस अध्याय को प्रारम्भ करने के पूर्व शिक्षक और छात्र दोनों को मानसिक रूप से तैयार होना पड़ता है और तब कहीं महीनों के अनवरत अभ्यास से यह पाठ समाप्त होता है। प्रत्यक्ष कथन को परोक्ष कथन में परिवर्तित करने के लिए लोहे के चने चबाने पड़ते हैं। संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, अव्यय और संयोजक पदों में भाँति-भाँति के परिवर्तन होते हैं। Reporting verb said को told, asked, inquired, ordered, advised, exclaimed आदि अनेक रूपों में परिवर्तन किया जाता है। सर्वनाम कभी कर्ता के अनुसार परिवर्तित होता है तो कभी कर्म के अनुसार। और, कभी-कभी तो उसमें कोई परिवर्तन होता ही नहीं। संयोजक के रूप में कभी if, whether, as या to। यदि कदाचित् कोई संयोजक दिखाई न दे तो भी कोई आश्चर्य नहीं। Ram said to Mohan, "Are you ill today?" (राम ने मोहन से कहा, "क्या तुम आज बीमार हो?") का परोक्ष कथन होगा- Ram asked Mohan if he was ill that day। (राम ने मोहन से पूछा कि क्या वह उस दिन बीमार था।) इस वाक्य में मोहन के लिए 'वह' आज के लिए 'उस दिन' और 'है' के लिए 'था' का प्रयोग हुआ है। हिन्दी में इस प्रकार की कोई समस्या नहीं। प्रत्यक्ष कथन को परोक्ष कथन में बदलने के लिए उद्धरण चिह्न के बदले 'कि' का प्रयोग पर्याप्त है। अन्य किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं। यथा-

राम ने मोहन से पूछा, "क्या तुम आज बीमार हो?"

राम ने मोहन से पूछा कि क्या तुम आज बीमार हो? (न कि क्या वह उस दिन बीमार था)

राम ने मोहन से कहा, "मुझे एक कलम है।" (न कि उसे एक कलम थी)।

इस अँगरेजी परम्परा की नकल हिन्दी में उचित नहीं।

उर्दू वाले कि, चूँकि, हालाँकि, जबकि, वे आदि के बदले क्रमशः के, चूँके, हालाँके, जबके, वो आदि का प्रयोग करते हैं। क्या हिन्दी में इसका अन्ध-अनुकरण सम्भव है?

हिन्दी न केवल इन विदेशी भाषाओं से बल्कि अपनी पोषक भाषा संस्कृत से भी अनेक स्थलों पर अपना वैशिष्ट्य स्थापित कर सरल मार्ग अपनाती है। संस्कृत में तीन लिंग हैं। 'वह' शब्द के लिए भिन्न-भिन्न लिंगों में तीन वचन हैं। 'वह' शब्द के लिए भिन्न-भिन्न लिंगों में सः, सा एवं तत् का प्रयोग होता है। हिन्दी में इन तीनों के लिए केवल 'वह' का प्रयोग पर्याप्त है। हिन्दी में वचन भी दो ही हैं- एकवचन और बहुवचन। द्विवचन की कोई आवश्यकता नहीं। मोहन सोहन से सुन्दरतर हैं' अथवा 'मोहन वर्ग में सुन्दरतम है' की अपेक्षा 'मोहन सोहन से सुन्दर है' अथवा 'मोहन वर्ग में सबसे सुन्दर है' कहना अधिक प्रशंस्य है। अँगरेजी की भाँति संस्कृत की क्रिया भी लिंग के अधीन नहीं रहती है; रामः पठति, सीता पठति। रामः और सीता के कारण पठति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। किन्तु हिन्दी में सामान्यतः कर्ता का लिंग क्रिया के द्वारा स्पष्ट होता है- राम पढ़ता है, सीता पढ़ती है। अनेक तत्सम शब्दों का प्रयोग हिन्दी में नहीं होता, यथा संस्कृत का 'दश' हिन्दी में 'दस' के रूप में स्वीकृत है। संस्कृत का 'दा' धातु सदैव सम्प्रदान कारक में होता है

पर हिन्दी में इसका एक ही पक्ष सत्य है। 'राजा ब्राह्मणाय गां ददाति' में 'ददाति' के योग में 'ब्राह्मण' की सम्प्रदान संज्ञा हुई। हिन्दी में 'राजा ब्राह्मण को गाय देता है' ब्राह्मण पद कर्म कारक में है। यहाँ गाय और ब्राह्मण दोनों कर्म संज्ञक हैं। गाय मुख्य कर्म है जबकि ब्राह्मण गौण कर्म हों निमित्त बोध के लिए 'देना' का प्रयोग सम्प्रदान होता है, यथा- मैंने उसे खाने को मिठाई दी।

अब कुछ संक्षिप्त चर्चा वाच्य पर-

हिन्दी के अनेक महान् वैयाकरणों ने अपने व्याकरण ग्रन्थों में कर्तृवाच्य के उदाहरण इस प्रकार प्रस्तुत किए हैं-

राम ने रोटी खायी ।

सीता ने भात खाया ।

मोहन ने फल खाये ।

मैंने चिट्ठी लिखी ।

उसने पत्र लिखा ।

इन्हें कर्मवाच्य में इस प्रकार से परिवर्तित किया गया है-

राम से रोटी खायी गयी ।

सीता से भात खाया गया ।

मोहन के द्वारा फल खाये गये ।

मुझसे चिट्ठी लिखी गयी ।

उससे पत्र लिखा गया। आदि। आपको यह जानकर सुखद आश्चर्य होगा कि ये सभी उदाहरण अशुद्ध हैं, तथ्य से परे तथा भ्रामक हैं। प्रथम श्रेणी के सभी उदाहरण कर्तृवाच्य के न होकर कर्मवाच्य के हैं, जबकि द्वितीय श्रेणी के वाक्य हिन्दी की प्रकृति के प्रतिकूल हैं। यहाँ ऊहापोह में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। साधारण सा विधान है। यदि क्रिया कर्ता के लिंग, वचन और

पुरुष के अनुसार हो तो कर्तृवाच्य, कर्म के अनुसार हो तो कर्मवाच्य और यदि कर्ता और कर्म से निःस्पृह रहे तो भाव वाच्य होता है। यथा-

राम रोटी खाता है- कर्तृवाच्य

राम ने रोटी खायी- कर्मवाच्य

रानी ने दासी को बुलवाया- भाववाच्य।

हिन्दी के आचार्यों को यह भ्रम अँगरेजी और संस्कृत के संस्कार-वश हुआ है। हिन्दी में वाच्य परिवर्तन प्रायः होता ही नहीं। अतः राम से रोटी खायी गयी, सीता से भात खाया गया आदि वाक्य पूर्णतः असंगत एवं भ्रान्त हैं। हाँ, अशक्तता, असमर्थता या लाचारी व्यक्त करने के लिए नकारात्मक वाक्य का प्रयोग प्रचलन में है, यथा राम से रोटी भी नहीं खायी जाती, सीता से भात भी नहीं खाया जाता, उससे चला नहीं जाता आदि। सावधान कवि या लेखक इस विधान का सम्मान करते हैं:-

हा, सही न जाती मुझसे

अब आज भूख की ज्वाला ।

कल से ही प्यास लगी है

हो रहा हृदय मतवाला ॥

(हल्दीघाटी 15 वाँ सर्ग)

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हिन्दी किसी भाषा की अनुगामिनी नहीं है। यह अपनी स्वच्छन्द प्रियता के बल पर दिनानुदिन प्रगति के पथ पर अग्रसर है।

शान्तिनगर, छपरा।





प्राचीन काल में पुत्रों की तरह कन्या का भी यज्ञोपवीत होता था। वह वेदों का अध्ययन करती थी और मन्त्र-पाठ भी करती थी :-

**पुराकल्पेषु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते ।  
अध्यापनां च वेदानां सावित्रीवाचनं तथा  
ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।**  
(अथर्व वेद 9-5-16)

कौशल्या का मन्त्र सहित अग्नि में आहुति देना और तारा के स्वस्तिवाचन से यह जान पड़ता है कि रामायण काल में भी नारी को वैदिक कर्मकाण्ड की शिक्षा प्राप्त थी। नारी को युद्ध कौशल में भी निपुणता प्राप्त थी। कैकेयी जब दशरथ के साथ रणभूमि में गई तो अपने युक्त कौशल से दशरथ को मोहित और आकर्षित कर दो मुँहमाँगा वरदान पाने की अधिकारिणी बन गयी।

रामायण काल के समाज में स्त्री पर कुदृष्टि रखना गलत कार्य था। उसे देश निकाला कर दिया जाता था। राम के वन जाने बाद जब भरत अयोध्या आते हैं, तो अपनी माँ कैकेयी से पूछते हैं कि क्या राम की दृष्टि परकीया स्त्री पर गयी थी- जिसके कारण उन्हें वनवास मिला:-

**कच्चिन्न परदारान् वा राजपुत्रोऽभिमन्यते ।**  
(वा० रामायण अयो० काण्ड-72/45)

वाल्मीकि-रामायण के अनुसार लक्ष्मण जब मूर्च्छित हो जाते हैं तब राम विलाप करते हैं। जग जाहिर है कि सीता पतिव्रता थी। सीता राजा जनकी की पोषित पुत्री थी राजा दशरथ की बड़ी बहू थी। वह अत्यन्त सुकुमार और कोमलता की देवी थी परन्तु पतिव्रता होने के कारण उसने हँसकर वन गमन की इच्छा प्रकट की। राम जानते हैं कि सीता पतिव्रता हैं, फिर भी राम लक्ष्मण मूर्च्छा के समय कहते हैं कि इस मर्त्यलोक में सीता जैसी पत्नी मिल सकती है परन्तु लक्ष्मण जैसा कुशल भाई नहीं मिल सकता:-

**शक्या सीतामयी नारी मर्त्यलोके विचिन्वता।  
न लक्ष्मणसमो भ्राता सचिवः साम्परायिकः।**

(वा. रामायण युद्धकाण्ड- 49/5-6)

यहाँ पर लक्ष्मण को सीता से अधिक श्रेष्ठ माना गया है। किन्तु यहाँ सीता की हीनता कतई अभिप्रेत नहीं है, बल्कि परिस्थिति के कारण सोदर भाई की श्रेष्ठता का बखान किया है। भारतीय साहित्य की शैली रही है कि जहाँ जिसका प्रसङ्ग है उससे भिन्न सभी वस्तुओं को गौण माना गया है। इसे विवाह-प्रभृति-राजानक-भृत्य-न्याय कहा गया है। अर्थात् कोई राजा यदि अपने नौकर के विवाह में जाते हैं, तो वहाँ दूल्हा बना नौकर महत्त्वपूर्ण होगा; राजा नहीं।

इसी प्रकार तुलसी ने भी कहा है:-

**सुत, बित, नारि भवन परिवारा,  
होहिं जाहिं जग बारहिं बारा ।  
अस विचारि जिय जागहु ताता,  
मिलइ न जगत सहोदर भ्राता ॥**

महाकवि तुलसीदास ने रामचरितमानस में विभिन्न वर्गों की नारी का चित्रण किया है जो देवी मानवी हैं और दानवी भी हैं। परन्तु सबमें एक भारतीय संस्कार है, शील है और आदर्श है। भीलनी शबरी जब भगवान् राम से मिलती है तो अपने आप को अधम मानती है यह नारी की अद्यमता नहीं; बल्कि भक्ति सुलभ 'कैकर्य' की अभिव्यक्ति है। राम शबरी को नौ प्रकार की भक्ति की परिभाषा बतलाते हुए कहते हैं कि नौवीं भक्ति है सरलता, सबसे निश्छलता। इन नौ में से एक भक्तियुक्त भी मुझे प्रिय है परन्तु तुझमें तो किसी प्रकार की दृढ़ भक्ति है। जो गति योगियों के लिए भी दुर्लभ है, वही आज तेरे लिए सुलभ है:-

**सोई अतिसय प्रिय भामिनी मोरे  
सकल प्रकार भगति दृढ़तोरे ।  
जोगि- बृद- दुर्लभ गति जोई,  
तो कहुं आजु सुलभ भइ सोई ॥**

(मानस अरण्य काण्ड)

यहाँ शबरी भारतीय भक्तिमती नारी की प्रतिमूर्ति है।

रावण की पत्नी मन्दोदरी दानवी होते हुए सीताहरण के बाद रावण को समझाती है:-

अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान  
मनुज बास-चर-अचर मय रूप राम भगवान।  
अस विचारि सुनु प्राणपति प्रभु सन बैर बिहाई।  
प्रीति करहु रघुवीर-पद मम अहिवात न जाई॥

(मानस : लंकाकाण्ड- 21 एवं 22)

यह जानते हुए कि सीता सती-साध्वी है, पतिव्रता है, अग्नि-परीक्षा में प्रमाणित और पवित्र है राम लोकापवाद के भय से सीता का परित्याग कर देते हैं। सीता को वाल्मीकि आश्रम में छोड़ दिया जाता है। वाल्मीकि की सीता रघुकुल की मर्यादा को चुनौती देती है, कालिदास की सीता भी राम को उलाहना देती है परन्तु तुलसी की सीता मौन हो जाती है। आधुनिक युग के कवि डॉ० रमाकान्त श्रीवास्तव की सीता आत्महत्या के लिए तत्पर हो जाती है जिसे वाल्मीकि रोकते हैं:-

महामरण ही उत्तम होगा  
मेरी इह लीला का अब अवसान सन्निकट  
लोकलाज मर्यादा की तुलना में ऋषिवर,  
मुझ निरीह-निष्कासित का जग में  
अस्तित्व गौण है... मुझे न रोके...मर जाने दें।  
(‘स्वयं धरित्री ही थी’-पृ.84)

कालान्तर में पत्नी को पति की दासी मानने की प्रथा प्रारम्भ हुई। पति लायक हो या नालायक, आचार-विचार वाला हो या दुराचारी-पति देवता ही है। मनुस्मृति के अध्याय 5 श्लोक 154 में भी लिखा गया है-“पति यदि दुराचारी परस्त्रीगामी और विद्या आदि गुणों से हीन हो फिर भी साध्वी स्त्री देवता के समान उसकी सेवा करें।”

महाभारत काल में यौनाचार को पाषाण युग की तरह स्वच्छन्द कर दिया गया। एक नारी से बहुत पुरुषों का तथा एक पुरुष से बहुत स्त्रियों

का यौन सम्बन्ध सामाजिक दोष नहीं माना जाता था।

उद्दालक ऋषि के पुत्र श्वेतकेतु अपने माता-पिता के साथ बैठे थे। उसी समय एक ब्राह्मण आया और उनकी माता को हाथ पकड़कर बोला कि चलो-अब हमलोग कहीं चलें। श्वेतकेतु को बहुत बुरा लगा वह क्रोधाग्नि में जलने लगा तब उसके पिता ने उससे अपनी सहमति नहीं दिखाई बल्कि कहा:-

“वत्स! कुद्ध मत होओ। स्त्रियाँ भी गाय की तरह आवरणहीन और स्वैराचारिणी होती हैं।  
अनावृता हि सर्वेषां वर्णानां अङ्गना भुवि।  
यथा गावः स्थिताः तात स्ववर्णै तथा प्रजाः॥

(महाभारत-1-122-8)

स्वेच्छाचार के स्थान पर नियमित विवाह की प्रथा प्रारम्भ करने का श्रेय श्वेतकेतु को दिया जाता है। उसी समय यह नियम बना कि जो पुरुष अपनी पतिव्रता और प्रेममयी पत्नी की जिसने अपने यौवन काल से लेकर पतिव्रता की शपथ का पालन किया है, उपेक्षा करके दूसरी स्त्रियों के पीछे जायेगा, वह भी पाप का भागी होगा :-

भार्या तथा व्यच्चरतः कौमाराब्रह्मचारिणीं,  
पतिव्रता एतदेव भविता पातकं भुवि।

(महाभारत- 1-22-18)

उस काल में उत्तक ने अपनी गुरुपत्नी के साथ और चन्द्रमा ने गुरु बृहस्पति की पत्नी तारा के साथ गमन किया जिसे बुरा नहीं माना गया। नारी को ‘भोग्या’ बना दिया गया।

जैनकाल में नारी कहीं विश्व वन्दनीय रही तो कहीं वैधव्य के शाप से शापित। नारी कहीं राज-सभा में सम्मान पाती है तो कहीं चेरी बनकर कुछ मुद्राओं में अपने को बेच देती है। कहीं राजनीतिज्ञों को भी अपनी विलक्षण बुद्धि से चकित कर देती है तो कहीं सौत से प्रताड़ित होकर आत्महत्या कर लेती है। कहीं साध्वी बन

जाती है तो कहीं वेश्या बन जाती है। जैन-काल में ही पुत्र जन्म पर थाली बजाने तथा पुत्री जन्म पर सूप बजाने की परम्परा शुरू हुई।

ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड में सधवा और पुत्रवती स्त्री ही भाग ले सकती है- गौतम बुद्ध ने इसका खण्डन किया। पुत्र द्वारा ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है'- इस कथन का भी बौद्ध साहित्य में खण्डन किया गया। डॉ० रामधारी सिंह दिनकर ने 'संस्कृति के चार अध्याय' के पृ. 155 में लिखा है :-

“नारी जो पुरुष के अत्याचारों के बोझ से दबी जा रही थी, शास्त्रकारों ने जिसे व्यक्तिगत आराधना का अधिकार नहीं दिया था, उसे भी बौद्ध काल में संवेदना का सन्देश मिला।”

बौद्ध साहित्य में तीन प्रकार के विवाह का वर्णन मिलता है- (1) प्राजापत्य पद्धति (2) स्वयंवर पद्धति और (3) गान्धर्व पद्धति।

इस प्रकार वैदिक काल से जैन-बौद्ध काल तक नारी या तो देवी मानी जाती रही या भोग्या बन गई। नारी को नारी रहने दिया जाए उसे 'मानवी' रहने दिया जाए- यह किसी ने नहीं सोचा।

हिन्दी साहित्य के आदि काल में क्षत्राणियाँ वीरता और आत्मोत्सर्ग में सबसे आगे रहा करती थी। जौहर उनके आत्म बलिदान और शौर्य का प्रतीक था। फिर भी नारी के प्रति समाज की धारणा सम्मान-जनक नहीं थी। नारी उस समय भी भोग्या मानी जाती रही। चन्द्रवरदाई ने संयोगिता के रूप लावण्य का आकर्षक चित्रण, नख-शिख वर्णन, रति-विलास वर्णन आदि अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'पृथ्वीराज रासो' में दिया है। उस काल में नारी को 'वीर' या 'शृंगारिक' रूप में देखा जाता था।

कवि विद्यापति ने भी नायिका के नख-शिख वर्णन, सद्यःस्नाता, मानवती, मिलनातुर, विरहातुर आदि नारी के विभिन्न रूपों का वर्णन अपने साहित्य किया है।

भक्ति काल में कबीर ने नारी के कामिनी रूप का विरोध किया है। उन्होंने नारी को माया का प्रतीक माना है। उनका कहना है कि नारी की छाया पड़ते ही अन्धा व्यक्ति भी सर्प हो जाता है और नारी रूपी माया में लिप्त रहकर ईश्वर की साधना नहीं की जा सकती :-

नारी की झाई पड़त अन्धा होत भुजंग ।

कबिरा तिनकी कौन गति नित नारी के संग ॥

गुरुनानक के युग में माता नारी, पतिव्रता नारी, लोभ-मोह से वंचिता नारी प्रशंसनीय रही है। सूफी कवियों ने तो नारी को एक नूर समझा जिसके बिना विश्व सूना है। जायसी ने 'पद्मावत' में एक के स्थान पर दो नायिकाओं का जिक्र किया तथा पतिव्रत धर्म एवं सौतिया दाह का भी चित्रण किया। उन्होंने स्वकीया एवं परकीया का भी विवेचन किया।

सूरदास ने यशोदा का चित्रण वात्सल्यमयी माँ के रूप में किया। सूरदास की गोपियाँ ज्ञान मार्ग से अधिक श्रेय प्रेम-मार्ग को देती हैं।

मीरा ने तो कृष्ण को स्वामी मान लिया और उनकी भावना कृष्ण के प्रति पूर्ण समर्पित थी। रीतिकाल में नारी के सौन्दर्य, कोमलता, भाव भंगिमा, प्रेम, चेष्टा, विरह-वेदना आदि का तो गम्भीर चित्रण है, परन्तु उपदेश का भी वर्णन है। महाराज जयसिंह नई रानी के प्रेम में पड़कर राज काज की अवहेलना करने लगे- तब बिहारीलाल ने यह दोहा लिखकर उन्हें सचेत किया :-

नहिं पराग, नहीं मधुर-मधु नहीं विकास एहि काल।

अलि कलि ही सौं बन्ध्यौ, आगे कौन हवाल ॥

कुछ लोगों का कहना है कि बिहारीलाल की पत्नी भी कवयित्री थी- यह दोहा उन्होंने ही लिखा था।

आधुनिक काल में राष्ट्रभाषा हिन्दी के साहित्यकारों के नारी के सुधामयी, ममतामयी, शक्तिमयी, वात्सल्यमयी, शरणदायिनी और

शान्तिकारिणी रूप का चित्रण किया है। माता तो माता है। जब हमारे देश में भारत की भूमि को भारत माता से सम्बोधित किया गया है, तब यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि नारी का माता रूप सदा ही पूजनीय रहा है, आज भी है और भविष्य में भी रहेगा।

भारतेन्दु-युग में नारी का चित्रण सुधारवादी दृष्टिकोण से किया गया है। इस काल में नारी परम्परा की दृष्टि से कोमलता और सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति समझी गई।

मैथिली शरण गुप्तजी ने 'पंचवटी' में सीता का एक आदर्श पत्नी के रूप में चित्रण किया है:-

है प्रीति और पवित्रता की मूर्ति सी वे नारियाँ,  
है गेह में वे शक्तिरूपा, देह में सुकुमारियाँ।

नारी समाज पर किये गये अत्याचार से राष्ट्रकवि गुप्त जी एकदम क्रोधित हो उठते हैं और कहते हैं कि संसार में ज्ञान-वृद्धि तथा समृद्धि की वृद्धि केवल नर-नारी की समानता से ही सम्भव है। कवि मानते हैं कि नारी के बिना पुरुष क्षमता से वंचित है :-

नर क्या करेगा, त्याग करती है नारी ही  
मैं कुछ, करूँगा, तो कराओगी तुम ही उसे।

राष्ट्रकवि दिनकर की नारी पुरुष से अधिक प्रतिभाशाली और महत्त्वपूर्ण है:-

खोजता पुरुष सौंदर्य; त्रिया प्रतिभा को,  
नारी चरित्र बल को, नर मात्र त्वचा को।

(परशुराम की प्रतिज्ञा-पृ-20)

नर और नारी के सम्बन्धों के प्रश्न में गम्भीर कम और ईमानदार अधिक बनना पड़ेगा। महान् दार्शनिक तथा भारत के पूर्व राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन् ने अपनी पुस्तक 'धर्म और समाज' के आलेख 'हिन्दू समाज में नारी' (पृ.-162) में लिखा है:-

“पुरुषों ने, जो स्त्रियों के सम्बन्ध में प्रकट किए गए, अधिकांश दृष्टिकोणों के लिए उत्तरदायी हैं, स्त्रियों के स्वभाव के विषय में और स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों की श्रेष्ठता के विषय में मनगढ़न्त कहानियाँ बना डाली है। उन्होंने अपनी सारी सूझ-बूझ नारी की रहस्यमयता और पवित्रता के साथ-साथ उनके सौन्दर्य और अस्थिरता के चित्रण में लगा दी है।”

नर और नारी के सम्बन्ध को परिभाषित करने के लिए पति-पत्नी के सम्बन्ध पर भी प्रकाश देना होगा।

याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ थी- कात्यायनी और मैत्रेयी। मैत्रेयी विदुषी थी तथा जिज्ञासु भी। वह बराबर याज्ञवल्क्य से कुछ-कुछ गूढ़ रहस्य पूछा करती थी। एक बार याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी के पूछने पर पति-पत्नी के सम्बन्ध के विषय में समझाया था :-

“पत्नी पति से या पति पत्नी से इसलिए प्रेम नहीं करता कि वह उसका पति या पत्नी है। दोनों इसलिए प्रेम करते हैं कि उन्हें अपने आप में अर्थात् अपने स्वयं से अपनी आत्मा से प्रेम है। संसार में यह आत्मा ही सर्वोपरि है।

'बृहदकारण्य उपनिषद्' में भी यही बात कही गई है कि पत्नी में आत्मस्वरूपिणी देवी विद्यमान है, इसलिए वह उतनी प्रिय है:-

न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवतु।  
आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति॥

(बृहद. उपनिषद्- 61516)

इसी कारण प्राचीन युग में ही 'अर्धनारीश्वर' की कल्पना की गई।

महात्मा गाँधी ने भी पत्नी को अर्धाङ्गिनी कहा था। उन्होंने कहा था:-

“वाईफ इज नौट ऐन इन्सट्रुमेन्ट ऑफ सेक्सुअल सटिसफैक्सन बट टू पार्टनर इन लाईफ।”



क्या यह विडम्बना नहीं है कि नर-नारी सम्बन्ध का सर्वाधिक सुन्दर रूप 'अर्धनारीश्वर' निर्विवाद रूप से भारत में ही सर्वप्रथम विकसित हुआ और भारत में ही यह सिद्धान्त डगमगाने लगा। तब न ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त अमृताजी को कहना पड़ा :-

अर्धनारीश्वर का फलसफा खो गया  
तो दासता पैदा हुई  
शिवशक्ति जैसा चिन्तन खो गया  
तो जड़ता पैदा हुई  
शक्ति खो गई  
तो खौफ पैदा हुआ।

महादेवीजी नर-नारी सम्बन्ध को ऊँचाई पर ले जाते हुए आत्मा और परमात्मा के अद्वैतवादी दृष्टिकोण की व्याख्या की है:-

चित्रित तू मैं हूँ रेखा-क्रम,  
मधुर राग तू मैं स्वर संगम  
तू असीम मैं सीका भ्रम।  
काया छाया में रहस्यमय।  
प्रेयसि प्रियतम का अभिनय क्या  
तुम मुझमें प्रिय! फिर परिचय क्या?

आज युग परिवर्तित हो गया है। तब न शैली सम्राट राजा राधिका रमण प्रसाद सिंहजी ने कहा था- "आज तो पुरानी रूढ़ियों का वह कुहरा फर चला। गई बीती मान्यताओं से अब चिपकी नहीं रह सकती। आज तो नारी की जिन्दगी का नया सवेरा है नई चेतना। अब पति किसी हालत में परमेश्वर नहीं- एक पार्टनर है पार्टनर।

('अबला क्या ऐसी सबला' पुस्तक से उद्धृत- पृ० 156)

आज पुरुषों को ईमानदारीपूर्वक नारी की भागीदारी को मानना पड़ेगा और कविवर प्रसाद की उन पंक्तियों को याद रखना होगा:-

तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में,  
कुछ सत्ता है नारी की ।  
समरसता है सम्बन्ध बनी,  
अधिकार और अधिकारी की ॥

नारी की प्रगति हो अवश्य- घर में, बाहर में, सभा में, समाज में, पंचायत से संसद तक सब में, परन्तु, नारी हमारी संस्कृति के अनुकूल रहे। वह राष्ट्रीय छवि बनकर उभरे। नारी की प्रगति ऐसी नहीं हो कि हमारी मर्यादा नष्ट हो जाए। हमारी मिट्टी की खाद जिसका नाम रौशन हैं, कहीं पश्चिमी खाद के आयात से फीकी न पड़ जाए। शैली सम्राट राजा साहब ने भी कहा था-

“मैं नारी की प्रगति का हिमायती ठहरा। हाँ, एक हथेली पर प्रगति हर क्षेत्र में भरी पूरी प्रगति, तो दूसरी पर अपनी संस्कृति की नैतिक दृष्टि भी चाहिए। इस प्रगति के साथ-साथ अपनी संस्कृति की सद्गति भी बड़ी चीज है- उससे बीस ही-उन्नीस नहीं।”

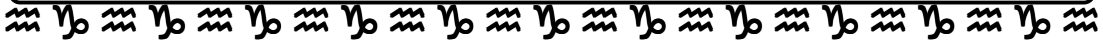
संपर्क :-

ग्राम+पो.- बेलाही, द्वारा-अथरी

जिला- सीतामढ़ी-८४३३११ ( बिहार )

दूरभाष- ०६२२६-२४८१४४





## श्री अरविन्द में वेदान्त-सी सृष्टि

○ प्रो० श्री कान्त प्रसून

वेदान्त जिसे विन्दु-रूप आकाश मानता है श्री अरविन्द उसे ही ब्रह्म (the supreme power) या शून्य (Nihil) स्वीकारते हैं। ब्रह्म ही आरम्भिक और अन्तिम सत्य है।

A nook was found that could embrace all words, A point that was a conscious knot of Space, An hour eternal in the heart of Time. The silent soul of all the world was there :

A Being lived, a Presence and a Power  
A single person who was himself and all.

Savitri : Book II : 290-91

‘बृहदारण्यक’ ‘छान्दोग्य’ और ‘तैत्तिरीय’ उपनिषद् यह स्पष्ट करते हैं कि ब्रह्म आकाश है, वही अन्तस् है, वही बाह्य है, वही खालीपन है, वही खुलापन है, वही भरित है, वही रिक्ति है, वही विकास का चरम उत्कर्ष है और सदा विकासमान है। ‘लाइफ डिवाइन में श्री अरविन्द भी यह स्वीकार करते हैं कि उसी में सब

समाहित है, उसी से सब निकलता है, वह सबमें है और वह किसी में नहीं अँटता। सृष्टि के पूर्व यह एक बिन्दु था। इसकी कोई ज्यामितीय परिधि नहीं थी। श्री अरविन्द भी यह कहते हैं कि शून्य में घर्षण से यह शक्ति छितरायी और खर्च करते हुए इसने अनन्त गणित को बचा लिया। अनेक

आधुनिक काल के महर्षि अरविन्द की अंगरेजी कृति ‘सावित्री’ महाकाव्य भारतीय अंगरेजी साहित्य की महान् कृति है। भारतीय वेदान्त दर्शन को रूपक के माध्यम से अंगरेजी भाषा में प्रस्तुति के कारण उसकी गूढ़ता सर्वविदित है। इस महाकाव्य में घर्षित दार्शनिक सिद्धान्त वेदान्त दर्शन की पृष्ठभूमि पर कितने खरे हैं, इस प्रसंग की विवेचना कर रहे हैं अंगरेजी के विद्वान् प्रो० श्रीकान्त प्रसून।

लेखक की मान्यता है कि कवि ने इस महाकाव्य के माध्यम से भारतीय दर्शन को व्यापक क्षेत्र में प्रचारित करने का अमूल्य कार्य किया है।

दुनिया इस प्रकार छितराई जैसे बीज छिटा जाता है। ब्रह्माण्ड बना और ताराओं की एक प्रणाली बन गयी—

At first was only an etheric Space:

Its huge vibrations circled round and round

Housing some unconceived initiative.

Upheld by a supreme original Breath

Expansion and contraction's mystic act

Created touch and friction in the void,

Into abstract emptiness brought clash and clasp :

Parent of an expanding universe

In a matrix of disintegrating force

By spending it conserved an endless sum.

On the hearth of Space it kindled a viewless Fire

That, scattering worlds as one might scatter seeds,

Whirled out the luminous of the stars.

Savitri : Book II : 155

इसी आकाश को मात्रा, बिन्दु या शुक्र कहते हैं, जिसमें विस्फोट हुआ था। विस्फोट का कारण श्री अरविन्द स्पर्श और घर्षण मानते हैं अन्य काम-शक्ति मानते हैं। यही बिन्दु-विस्फोट या शुक्र-स्फोट या केवल स्फोट कहा जाता है। ब्रह्म के लिए 'विवर्त' वह माध्यम है, जिससे संरचना होती है। ब्रह्म इस 'विवर्त' में होता है और इसकी रचना भी करता है। श्री अरविन्द के लिए 'विवर्त' ही शायद 'विद्युतीय शक्ति electrical force' है, जिसकी शक्ति 'एटम' में निहित हो गयी Its mightiness in the atom shut to rest. स्थल अलग हुए और उन्हें प्रत्यक्ष आकार मिलता गया। प्रकाश प्रस्फुटित हुआ और उसकी चमक में ब्रह्माण्ड में बिम्ब प्रदीप्त हो गये-

Masses were forged or feigned and visible shapes;  
Light flung the photon's swift revealing spark,  
And showed, in the minuteness of its flash  
Imaged, this cosmos of apparent things.

और, इस तरह असम्भव ब्रह्माण्ड सम्भव हो गया जो या तो प्रत्यक्षतया आश्चर्य था या विश्वसनीय प्रदर्शनी थी-

Thus has been made this real impossible world.  
An obvious miracle or convincing show.

Savitri : Book II : 155

यह प्रत्यक्ष होते हुए भी अनन्त है, स्पृश्य होते हुए भी दूर है, आकारवान् होकर भी निराकार लगता है। मनुष्य ही जीवन के इस आकारवान् स्पृश्य पहली को हल कर सकता है। अविश्वसनीय प्रकाश में, गलती से सत्य को पकड़ते हुए धीरे से चेहरे को पर्दे से विलगा सकता है-

Thus must he work life's tangible riddle out  
In a doubtful light, by error seize on Truth  
And slowly part the visage and the veil.

Savitri : Book II : 155

किन्तु मनुष्य का ज्ञान तो सशरीरी अज्ञानता है। वह प्रत्येक सत्ता में एक ठगनेवाली शक्ति (deceiving Force) देखता है, वह माया और

माया की शक्ति (Maya and her might) है। इस रहस्यात्मक अपरिवर्तनीय परिवर्तन (in the mysterious and unchanging change) और गति के प्रतीक को हमने समय कहा। उसका गतिशील चक्कर बार-बार होता है, वह शक्ति का स्वयं को बार-बार दुहराता भँवर है जो जीवन की, ज्ञान की और जागृत मस्तिष्क की प्रतीक्षा करता है- (Awaited life and sense and waking mind.) तब आत्मा की प्रशान्त गतिहीन निद्रा टूटी : भौतिकता के हृदय में जीवन का स्वप्न जाग्रत हुआ। एक सूक्ष्म साँस मृत भौतिक आकारों में तीव्र हुई- A subtler matter quickened dead Matter's forms : निर्जीव जगत् में जीवन का द्वीप बढ़ा और आकारहीन वायु में जीवन के कीटाणु बने And germs of living formed in formless air. वह जीवन सांसारिक नियमों का पालन करने लगा। जागृति और सुसुप्ति गलबहियाँ डाले पड़ गयीं, असहाय और अनजाना आनन्द और दुख विश्व-आत्मा के प्रथम अस्पष्ट आनन्द-से थरथराते आ गये-

Waking and sleep lay locked in mutual arms;  
Helpless and indistinct came pleasure and pain  
Trembling with the first faint thrills of a World-Soul.

इसके पश्चात् शरीर की उत्पत्ति (birth was born) और शरीर में जीवन, ज्ञान, इच्छा, दृष्टि आदि के अवतरण का जो काव्यात्मक वर्णन श्री अरविन्द ने किया है, उस शिशु-रूप-नाद-सौन्दर्य का वर्णन अन्यत्र कहीं हुआ ही नहीं है। इस स्थल को बार-बार पढ़कर आनन्दित हुआ जा सकता है। सृष्टि में मानव सृष्टि चमत्कारिक है और उसका तथ्यपरक, भावप्रवण वर्णन श्री अरविन्द की द्रष्टा क्षमता और भाषा शक्ति का प्रशंसनीय उदाहरण भी है। सभी मानवीय अनुभूतियाँ एक-एक कर शिशु में समाती हैं- अहम्, आशा, गर्व, ज्ञान इत्यादि सभी

कुछ प्राप्त होता जाता है। ये सभी प्रत्यक्षतः हममें विद्यमान है।

फिर आरम्भ होता है अन्तस् का, अप्रत्यक्ष का वर्णन, जो हममें है, जिसकी अनुभूति भी यदा-कदा होती है पर वह हममें बन्द है। हम खोल नहीं पाते, देख-जान नहीं पाते। जिनका आन्तरिक अर्थ पता नहीं चलता (inner meaning missed)। हमारे ही अन्दर एक ध्वनि है जिसे हम नहीं सुन पाते, वह आत्मा का पहिलीनुमा श्रम है, एक सर्व-कार्य-कुशल मशीन है, जिसका उपयोग हम नहीं जानते-

It locks in our hearts a voice we cannot hear.  
An enigmatic labour of the spirit,

An exact machine of which none knows the use,

Savitri : Book II : 160

बाह्य का असीम जितना रहस्य वेष्टित है, मानव-मन और मानव-तन आज भी अगम-अगोचर बना हुआ है। अन्दर के अनजाने के विकास का वर्णन करते हुए एकबार पुनः श्री अरविन्द ने अपनी अलौकिक शक्ति, प्रतिभा और ज्ञान का तेजस्वी प्रकाशन किया है। वे उन तत्त्वों को उद्घाटित करते हैं, जिसे मानव मस्तिष्क सीखता है, पर जानता नहीं। वह सतह के नियमों का सतही विचारों से अध्ययन करता है: जीवन के विकास का निरीक्षण करता है और प्रकृति की प्रणाली को देखता है फिर भी हम नहीं देख जाते कि प्रकृति क्यों कर्मरत है और हमीं क्यों जीते हैं?

The mind learns and knows not,  
turning its back to truth;  
It studies surface laws by surface thought,  
Life's steps surveys and Nature's process sees,  
Not seeing for what she acts or why we live;

Savitri : Book II : 160

हम किसी के भी अपर लक्ष्य को नहीं जानते। हमारे औजारों में वह उन्नत प्रकाश नहीं है और हमारी इच्छा असीम बाह्य की इच्छा से तादात्म्य नहीं बैठा पाती-

Our instruments have not that greater light,  
Our will tunes not with external will

Savitri : Book II : 161

हमारे हृदय की आँखे इतनी अन्धी और उत्तेजित हैं कि प्रकृति के रहस्यों को बाँट नहीं पाती, हमारी बुद्धि जीवन के महासमुद्र को तौल नहीं पाती, लहरें गिनती और फेन झाँटती रह जाती हैं, मानव-उपयोग हेतु उसकी धाराएँ वे क्या मोड़ पायेंगी? हमारी आन्तरिक गहराई स्वयं से अनभिज्ञ है, हमारा शरीर तक रहस्य की दुकान है, जैसे हमारी धरती की जड़ें हमारी धरती के भीतर फैली है उसी तरह हमारे मस्तिष्क और जीवन की जड़ें भी अनदेखी पड़ी हैं-

Our deepest depths are ignorant of themselves;

Even our body is a mystery shop;

As our earth's roots lurk screened below our earth.

So lie unseen our roots of mind and life.

Savitri : Book II : 161

ये सब एक शक्ति का व्यापार है। न हम जन्म जानते हैं, न मृत्यु और न इनके कारणों को।

इसके बाद की पूरी सावित्री एक वेदान्तिक यात्रा है। इस अधूरेपन से पूर्णता की ओर की जानेवाली यात्रा, इस अज्ञान से पूर्ण ज्ञान की ओर बढ़नेवाली यात्रा, लघु मानव से महामानव या अतिमानव बननेवाली यात्रा या अधम सांसारिकता से स्वर्गिक दैविकता तक चलनेवाली यात्रा। श्री अरविन्द वेद, वेदान्त, उपनिषद् आदि के अनुरूप ही चिन्तन, मनन और काव्य रचना करते जाते हैं- काव्य-पंक्तियों को मन्त्र-पंक्तियों को मन्त्र-तुल्य बनाने की चेष्टा में सदा सजग। ऐसे में वे ऋषियों की वाणी बोलते हुए लगते हैं। शायद इसीलिए वे श्री नहीं रहते, महर्षि अरविन्द हो जाते हैं।

प्र० श्री कान्त प्रसून

सोलोमन कम्पलेक्स, मोतिहारी-८४५४०१





तथा उनके पुत्र वसुनाभ हुए। वसुनाभ के त्रिधन्वा तथा उनके पुत्र त्रय्यारुण हुए। त्रय्यारुण के पुत्र सत्यरत (त्रिशंकु) तथा त्रिशंकु के पुत्र हरिश्चन्द्र हुए। हरिश्चन्द्र के पुत्र रोहिताश्व तथा उनके पुत्र हारीत हुए। हारीत के पुत्र चंचु, उनके विजय तथा विजय के रुरुक पुत्र हुए। रुरुक के वृक, वृक के बाहु, बाहु के सगर के असमंजस तथा उनके पुत्र अंशुमान् हुए। अंशुमान् के पुत्र दिलीप तथा दिलीप के पुत्र भगीरथ हुए। भगीरथ के श्रुत, श्रुत के नाभाग, नाभाग के अम्बरीष तथा अम्बरीष के सिन्धुद्वीप पुत्र हुए। सिन्धुद्वीप के आयुतायु उनके ऋतुपर्ण तथा ऋतुपर्ण के सर्वकाम नानक पुत्र हुए। सर्वकाम के सौदास (मित्रसह) पुत्र हुए। सौदास के कल्माषपाद, कल्माषपाद के अश्वक, उनके मूलक तथा मूलक के दशरथ तथा दशरथ के ऐलविल उनके विश्वसह तथा विश्वसह के खट्वाङ्ग, पुत्र हुए। खट्वाङ्ग, के दीर्घबाहु, दीर्घबाहु के अज तथा अज के पुत्र दशरथ हुए। दशरथ के राम, भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न चार पुत्र हुए। दशरथ के राम, भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न चार पुत्र हुए। इस प्रकार श्रीराम सूर्य की छाछठवीं, ऋषभदेव की बासठवीं, हरिश्चन्द्र की तैतीसवीं तथा भगीरथ की इक्कीसवीं पीढ़ी में हुए थे। और यदि इक्ष्वाकु से जोड़ा जाय तो इक्ष्वाकु की उनसठवीं पीढ़ी में महाराज दशरथ हुए थे।

पुराणों में यह वंशावली विभिन्न प्रकार से उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त वाल्मीकीय रामायण के बालकाण्ड में भी एक वंशावली उपलब्ध है। रामायण के विभिन्न पाठों की समालोचना कर तथा भागवत पुराण में उल्लिखित वंशावली का अध्ययन करने पर निम्न प्रकार से वंश प्रवाह स्पष्ट होता है, जिसमें इक्ष्वाकु से छतीसवीं पीढ़ी पर राम सिद्ध होते हैं। यह वंशावली इस प्रकार है:-

मनु AA इक्ष्वाकु AA कुक्षि AA विकुक्षि AA बाण AA अनरण्य AA पृथु AA त्रिशंकु हरिश्चन्द्र AA रोहिताश्व AA धुन्धुमार AA युवनाश्व AA मान्धाता AA सुसन्धि AA ध्रुवसन्धि AA भरत AA असि AA सगर AA असमंजस AA अंशुमान् AA दिलीप AA भगीरथ AA ककुत्स्थ AA रघु AA कल्माषपाद AA शंखण AA सुदर्शन AA अग्निवर्ण AA शीघ्रग AA मरु AA प्रशुश्रुव AA अंबरीष AA नहुष AA ययाति AA नाभाग AA अज AA दशरथ AA राम, लक्ष्मण।'

साथ ही एक वंशावली महाकवि कालिदास ने भी अपने ग्रन्थ रघुवंश में दी है, जिसमें उपर्युक्त कतिपय राजाओं को उन्होंने श्रीराम के बाद माना है। राजा दिलीप से श्रीराम तक उनकी वंशावली इस प्रकार है :-

दिलीप AA रघु AA अज AA दशरथ AA राम, लक्ष्मण।'

इस प्रकार, इक्ष्वाकु वंश के राजाओं की वंशावली में पर्याप्त विविधताएँ पायी जाती हैं।

निमि ने एक हजार वर्ष में समाप्त होने वाले एक यज्ञ का आरम्भ किया। इस यज्ञ में वशिष्ठजी को होता के रूप में वरण किया गया। लेकिन, वसिष्ठ ने कहा कि उन्हें पूर्व में ही इन्द्र ने पाँच सौ वर्ष के एक यज्ञ के लिये वरण कर लिया है। इसलिये वसिष्ठ ने निमि से कहा कि वे ठहर जाँय। पहले इन्द्र का यज्ञ करा लेंगे फिर वे निमि का यज्ञ करायेंगे। लेकिन, राजा निमि ने नहीं माना तथा गौतम आदि होताओं को नियुक्त कर अपना यज्ञ प्रारम्भ कर दिया। देवराज इन्द्र का यज्ञ समाप्त कर वसिष्ठजी जब निमि के पास पहुँचे तो उन्होंने देखा कि गौतमादि यज्ञ करा रहे हैं। वसिष्ठ ने सोते हुए राजा निमि को शाप दे दिया कि वे देहहीन हो जाँय। जब राजा निमि सोकर उठे तो निमि ने भी कहा कि “इस दुष्ट गुरु ने मुझसे बिना बातचीत किये अज्ञानता पूर्वक

मुझ सोये हुए को शाप दिया है, इसलिये इसका देह भी नष्ट हो जायगा” और राजा निमि ने अपना शरीर छोड़ दिया।

“यस्मान्मामसम्भाष्याज्ञानत एव शयानस्य शापोत्सर्गमसौ दुष्टगुरुश्चकार तस्मात्तस्यापि देहो पतिष्यतीति शापं दत्वा देहमत्यजत्।”

(विष्णुपुराण 4.5.10)

राजा निमि के शाप से वसिष्ठ का लिंगदेह मित्रावरुण के वीर्य में प्रविष्ट हुआ और उर्वशी को देखने से उसका वीर्य स्थलित होने पर उसी से उन्होंने दूसरा देह धारण किया। निमि का शरीर भी अमित मनोहर गन्ध और तैलसंवाहनादि से सुरक्षित रहने के कारण सड़ा गला नहीं, बल्कि तत्काल मरे हुए शरीर ही जैसा रहा।

यज्ञ समाप्त होने पर जब सभी देवता उस यज्ञ में अपना-अपना लेने आये तो यज्ञ के ऋत्विक् गणों ने यजमान को वर देने के लिये कहा। देवताओं से प्रेरणा प्राप्त कर निमि ने कहा कि उनके विचार से शरीर और आत्मा का वियोग होने में जैसा दुःख होता है वैसा और कोई दुःख नहीं है इसलिये वे अब फिर शरीर ग्रहण नहीं करना चाहते हैं, बल्कि वे समस्त लोगों के नेत्रों में ही वास करना चाहते हैं। देवताओं ने निमि के अनुरोध को मानते हुए समस्त जीवों के नेत्रों में अवस्थित कर दिया। तभी से प्राणी निमेषोन्मेष (पटनक खोलना मूंदना) करने लगे हैं।

उसके बाद मुनिजनों ने सोचा कि कहीं राजा के अभाव में अराजकता न फैल जाय इसलिये राजा निमि के शरीर को अरणि से मँथकर एक कुमार उत्पन्न किया, जो जन्म लेने के कारण ‘जनक’ कहलाया। इसके पिता विदेह (बिना देह के) थे इसलिये यह वैदेह कहलाया और मन्थन से उत्पन्न होने के कारण ‘मिथि’ भी कहलाया। इनका राज्य भी इसीलिये ‘मिथिला’

कहलाया। इस प्रकार जनक वंश का आरम्भ हुआ। वास्तव में जनक किसी विशेष व्यक्ति मात्र का नहीं बल्कि एक वंश का नाम है।

विष्णुपुराण के अनुसार, बाद में उस जनक को उदावसु नामक पुत्र हुआ। उदावसु के नन्दिवर्द्धन नन्दिवर्द्धन के सुकेतु, सुकेतु के देवरात, देवरात के बृहदुक्थ, बृहदुक्थ के महावीर्य, महावीर्य के सुधृति, सुधृति के धृष्टकेतु, धृष्टकेतु के हर्यश्व, हर्यश्व के मनु, मनु के प्रतिक के कृतरथ, कृतरथ के देवमीढ, देवमीढ के विबुध, विबुध के महाधृति, महाधृति के कृतरात, कृतरात के महारोमा, महारोमा के सुवर्णरोमा, सुवर्णरोमा के ह्रस्वरोमा, और ह्रस्वरोमा के सीरध्वज हुए। सीरध्वज जनक अब पुत्र की कामना से यज्ञ भूमि को जोत रहे थे, उसी समय हल के अग्रभाग से सीता नाम की कन्या उत्पन्न हुई।

**तस्य पुत्रार्थं यजनभुवं कृषतः सीरे सीता दुहिता समुत्पन्ना।**

(-विष्णु-पुराण- 4.5.28)

विष्णुपुराण के अतिरिक्त वाल्मीकीय रामायण एवं भागवत पुराण में भी यह वंशावली उपलब्ध होती है। इनमें पर्याप्त अन्तर है। वाल्मीकीय रामायण के अनुसार यह वंशावली इस प्रकार है:-

निमि AA मिथि AA जनक (आदिजनक) AA उदावसु AA नन्दि वर्धन AA संकेतु AA देवरात AA बृहद्रथ AA महावीर AA सुधृति AA धृष्टकेतु AA देवमीढ AA विबुध AA महीध्रक AA कीर्तिरात AA महारोमा AA स्वर्णरोमा AA ह्रस्वरोमा AA सीता के पिता जनक एवं कुशध्वज।

इस प्रकार इक्ष्वाकु के ज्येष्ठपुत्र विकुक्षि अयोध्या के शासक बने तथा इनके कनिष्ठ भ्राता निमि मिथिला के संस्थापक हुए। निमि की वंश परम्परा में सीता के पिता महाराज सीरध्वज जनक हुए हैं।

विष्णुपुराण की उपलब्ध गणना के आधार पर विकृक्षि के सन्तावनवें (57) पीढ़ी के अनन्तर राम का अवतार हुआ था और निमि के वंश में प्रायः (21) इक्कीसवीं पीढ़ी के अनन्तर ही सीता के पिता सीरध्वज जनक का नाम आता है। इस तरह दोनों पीढ़ियों में लगभग एक हजार वर्षों का अन्तर असम्भव सा लगता है। साथ ही, वंशावली में भी विविधता है। इस सम्बन्ध में विद्वानों से उनके बहुमूल्य मत आमन्त्रित हैं।

विभिन्न पुराणों के आधार पर मुझे एक कारण लगता है कि सम्भवतः दोनों वंशों के प्रधान-प्रधान राजाओं के ही नाम पुराणों में गिने गये हैं। अतः जिस राजवंश में प्रधान एवं प्रतापी राजा अधिक हुए उस वंश के अधिक नाम आगये और जिस वंश में प्रधान राजा कम हुए वहाँ कम नामों की ही गणना हुई है।

ग्राम-बदडीहा, पोस्ट 'मिर्जागंज'  
जिला-गिरिडीह (झारखण्ड)  
पिन- ८१५३१५



### शिवताण्डवस्तोत्र के दो अन्य श्लोक

रावण कृत शिवताण्डवस्तोत्र भक्तजनों के बीच अत्यन्त प्रसिद्ध है। गीताप्रेस, गोरखपुर द्वारा प्रकाशित पाठ में इसके कुल 15 श्लोक उपलब्ध होते हैं, किन्तु मिथिला की कण्ठगत परम्परा में दो अन्य श्लोक भी उपलब्ध हुए हैं, जिन्हें यहाँ भक्तों के लिए सुलभ किया जा रहा है:-

निलिम्पनाथनागरी कदम्बमौलिमल्लिका-

निगुम्फनिर्झरक्षरन् मधुस्मिका मनोहरः ।

तनोतु मे मनोमुदं विनोदिनीमहर्निशं

परश्रियः परं पदं तदङ्गजत्विषां चयः ॥१४॥

देवताओं के राजा इन्द्र की नगरी की ललनाओं के सिरों पर गुँथी हुई जूही फूल की माला से अनवरत झरना के समान झरता हुआ तथा उन ललनाओं की मधुर मुस्कान के समान मनोहर शिव के अंग की आभा का समूह हमारे मन में आनन्द फैलाएँ। हमें परम ऐश्वर्य तथा परमपद की प्राप्ति को प्रशस्त करे।

प्रचण्डवाडवानलप्रभाशुभप्रचारिणी

महाष्टसिद्धिकामिनीजनावहूतजल्पनः ।

विमुक्त वामलोचनाविवाहकालिकध्वनिः

शिवेति मन्त्रमुच्चरन् कदासुखी भवाम्यहम् ॥१५॥

समुद्र की भयंकर अग्नि के समान विनाशकारिणी अणिमा आदि अष्ट-सिद्धि-रूपी ललनाओं के विलास के शब्द तथा प्रशस्त सुर-सुन्दरियों के साथ विवाह के समय की मधुर ध्वनि के समान 'शिव शिव' यह आनन्ददायक मन्त्र का उच्चारण करता हुआ मैं भला कब सुखी होऊँगा?



## वेदवाणी

### विष्णु सूक्त

[ऋग्वेद में देवता विष्णु से सम्बद्ध पाँच-छह सूक्त हैं। इन सूक्तों में इनके तीन पग की चर्चा बार-बार हुई है और इन्हें 'त्रिविक्रम' कहा गया है। इनमें से ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का १५४वाँ सूक्त यहाँ पाठकों के लिए उद्धृत है। इस सूक्त ऋषि मेधातिथि हैं ]

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि विमसे रजांसि ।

यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थै विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥१॥

अब मैं विष्णु के पराक्रमों की बात कहता हूँ, जिन्होंने पृथ्वी से सम्बद्ध लोकों को माप लिया है; तीन डग भर कर जिन्होंने ऊपर भी अन्तरिक्ष को स्थिर कर दिया है।

प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ।

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥२॥

सिंह के समान भयंकर, दुर्गम प्रदेश में और पर्वत पर रहनेवाले उस विष्णु की स्तुति होती है, जिनके तीन पराक्रम वाले डगों में सभी भुवन समा गये हैं।

प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षित उरुगायाय वृष्णे ।

य इदं दीर्घं प्रयतं सघस्थमेको विममे त्रिभिरित्यदेभिः ॥३॥

अनेक लोग जिनकी विनती करते हैं, जो पर्वत पर रहते हैं तथा कामनाओं की पूर्ति करते हैं, ऐसे विष्णु तक मेरी स्तुति पहुँचे। उन्होंने अकेले ही तीन डगों से इस विस्तृत और विशाल स्थल को माप लिया।

यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति ।

य उ त्रिधातु पृथिवीमुत्त द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा ॥४॥

तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति ।

उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः ॥५॥

मधु भरे जिनके तीन पग अविनाशी परमानन्द में विभोर हैं, तथा जिन्होंने त्रिगुणित विधि से अकेले पृथ्वी आकाश और अन्य जीवों को सहारा दिया है। मैं विष्णु के वैसे प्रिय धाम को पाऊँ, जहाँ भक्तगण आनन्द मनाते हैं तथा विष्णु के सच्चे बन्धु हैं। विष्णु के सबसे ऊँचे पग में मधु का स्रोत है।

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्ये यत्र गावो भूरिशृङ्गाः अयासः ।

अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णाः परमं पदमव भाति भूरि ॥६॥

तुम दोनों के लिए अनेक सींगो वाली गायों से भरे आवास की प्राप्ति की कामना हमलोग करते हैं। वस्तुतः वहीं से विस्तृत पग वाले विष्णु का उच्चतम पग नीचे की ओर उस बल चमकता है।

## नवीनतम प्रकाशन

### श्रीदुर्गासप्तशती

दुर्गासप्तशती का यह द्वितीय संस्करण भक्तों और सुधी पाठकों को समर्पित किया गया है। पिछले वर्ष यह प्रथम बार प्रकाशित किया गया था। इस एक वर्ष में सुधी पाठकों ने इसके सम्पादन के विषय में कई सुझाव दिये; कई प्रश्न उठाये। हम उनके प्रति आभारी हैं, जिनके साथ वार्तालाप इस संस्करण को परिवर्द्धित करने में उपयोगी रहा है।

दुर्गासप्तशती शक्ति उपासना की परम्परा में उत्कृष्ट ग्रन्थ है। इसके मूल तेरह अध्यायों के साथ अंग रूप में अन्य स्तोत्रों के पाठ की भी पुष्ट परम्परा रही है। इसके अतिरिक्त हमने कुछ विशिष्ट देवी-स्तुतियों का भी संकलन किया है। प्रथम संस्करण में संकलित स्तुतियों के अतिरिक्त गोस्वामी तुलसीदास कृत गिरिजा-स्तुति, विद्यापति की दुर्गाभक्ति-तरंगिणी में उद्धृत भविष्य-पुराणोक्त स्तुति, आचार्य पृथ्वीधर कृत चण्डी-स्तोत्र, महाभारतोक्त दुर्गास्तुति, ऋग्वेदीय परिशिष्टोक्त श्रीसूक्त आदि जोड़े गये हैं, जो विषय-सूची में तारांकित हैं।

प्रथम संस्करण में दो स्तोत्र, शंकराचार्य कृत 'अम्बाष्टक' एवं रामकृष्ण कवि कृत 'पद्मपुष्पाञ्जलि' मूलमात्र संकलित किए गये थे। इस संस्करण में उनका हिन्दी अनुवाद भी दिया जा रहा है। इसका अनुवाद मिथिला के मूर्द्धन्य संस्कृत विद्वान् प० गोविन्द झा के द्वारा किया गया है। इसके लिए हम उनके आभारी हैं।

हमारा विश्वास है कि इस परिवर्द्धित संस्करण से सुधी भक्तजन अवश्य लाभान्वित होंगे। भविष्य में भी हमें उनके सुझावों की अपेक्षा रहेगी।

श्रीदुर्गासप्तशती

पृष्ठ सं० 344

मूल्य : 40 रुपये

### संक्षिप्त मारुति स्तुति

संक्षिप्त मारुति स्तुति का चतुर्थ संस्करण श्रद्धालु पाठकों के कर-कमलों में समर्पित किया गया है। इसका प्रथम संस्करण 1996 ई० में हुआ था।

गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस के अतिरिक्त अपने अन्य ग्रन्थ-रत्नों में भी रुद्रावतार पवन-पुत्र हनुमान् की स्तुति की है। हनुमान् साठिका, हनुमान वाहुक, वजरंगवाण आदि कृतियों में तो महावीर हनुमान् के प्रति उनकी एकनिष्ठ भक्ति मुखर है। ये लघु कृतियाँ भक्तों की कण्ठमालायें बनी हुई हैं। श्रद्धालु अक्सर अनिष्ट के निवारण के लिए तथा सभी प्रकार की मनोकामनाओं की सिद्धि के लिए इनका पाठ करते हैं। अतः इन स्तुतियों का एकत्र संकलन महावीर मन्दिर प्रकाशन से 1996 ई० में प्रकाशित किया गया। पुनः इस पुस्तक के प्रति पाठकों की रुचि देखते हुए एक वर्ष के बाद ही 1997 ई० में दूसरा संस्करण भी प्रकाशित किया गया। 2002 ई० में इसका तीसरा संस्करण आया। अब चतुर्थ संस्करण भी भक्तों के कर-कमलों में समर्पित है। इस संस्करण में किष्किन्धाकाण्ड से वह अंश भी संकलित किया गया है, जिसमें गरुड़ तथा जाम्बवान् के मुख से वीरवर हनुमान् के अमित पराक्रम का गुणगान किया गया है। इष्टदेव की महिमा का कीर्तन भी नवधा भक्ति के अन्तर्गत प्रतिष्ठित है।

संक्षिप्त मारुति स्तुति

पृष्ठ सं० 67

मूल्य : 10 रुपये

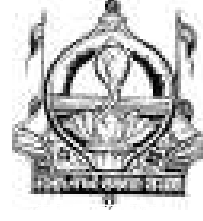
### हनुमत्-कवचम्

यह हनुमत्कवच आनन्द-रामायण के मनोहर काण्ड के 13वें सर्ग से संगृहीत है। एकवार देवाधिदेव शिव से परमशक्ति पार्वती ने प्रश्न किया कि प्रभो! कथापत्र जनों के त्राण का उपाय क्या है? तब आशुतोष शंकर ने वतलाया कि प्रभु श्रीराम ने विभीषण को जो गोपनीय हनुमत्कवच वतलाया था, उसी से सभी संकटों का सद्यः समाधान सम्भव है। वस्तुतः यह हनुमत्कवच अतिशय प्रभावशाली है और इसके मनोयोगपूर्वक पाठ से सभी आधियों और व्याधियों से मुक्ति मिलती है।

हनुमत्-कवचम्

पृष्ठ सं० 42, मूल्य : 5 रुपये

**अंक : ७२**  
आषाढ-भाद्र: २०६३ संवत्  
जुलाई-सितम्बर: २००६ ई०



‘नासा’ के अन्तरिक्ष यान ने भारत और श्रीलंका के बीच बने उस सेतु का चित्र लिया है, जिसके निर्माण का विवरण ‘रामायण’ में मिलता है। यह 18 मील लंबा है। इसे आज आदम का पुल कहा जाता है। ‘नासा’ ने इसे 17,50,000 वर्ष पुराना माना है। यह चित्र रामायण-कथा की सत्यता को प्रमाणित करता है।

## विष्णु सूक्त

[ऋग्वेद में देवता विष्णु से सम्बद्ध पाँच-छह सूक्त हैं। इन सूक्तों में इनके तीन पग की चर्चा बार-बार हुई है और इन्हें 'त्रिविक्रम' कहा गया है। इनमें से ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का १५४वाँ सूक्त यहाँ पाठकों के लिए उद्धृत है। इस सूक्त ऋषि मेधातिथि हैं ]

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि विमसे रजांसि ।  
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थै विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥१॥

प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ।  
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥२॥

प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षित उरुगायाय वृष्णे ।  
य इदं दीर्घं प्रयतं सघस्थमेको विममे त्रिभिरित्यदेभिः ॥३॥

यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति ।  
य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा ॥४॥

तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति ।  
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः ॥५॥

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गाः अयासः ।  
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि ॥६॥